र रहा है ?

दो शब्द

"कोई भी विकृति या अनियमितता देश के किसी भी केवल एक समाज में नहीं हुआ करती। यह तो सम्पूर्ण देशके सर्वसाधारण लोगों में स्वयं के स्वाभिमान का विस्मरण व्यापक रूप से हो जाने पर प्रतिक्रिया स्वरूप उस देश के सभी समाजों में कम अधिक मात्रामें समान रूप से हुआ करती है। अतएव जो बातें एक समाज के लिए लागू हो सकती हैं, वही उस समयकालीन सभी समाज के उपयुक्त भी प्रायः हुआ करती हैं। अतएव इसके विचार एक ही समाज के लिये सीमित और जाति संकीर्ण न समझा जावे।"

पुस्तक के अन्दर के "निवेदन" से

यद्यपि इसमें उद्धृत बातें तात्कालीक मारवाड़ी समाज की समस्याओं पर ही आधारित हैं किन्तु चूंकि प्रायः वे सभी बातें सभी समाज के लिये एक समान ही लागू होती हैं इस कारण इसे पूरे देश की सभी जातियों और समाज के लिये ही समझना चाहिये। इसका गुजराती, बंगला आदि भाषाओं में भी शीघ्र ही प्रकाशन प्रस्तुत करने की योजना की जा रही है।

—प्रकाशक

समाज बिखर रहा है ?

लेखक

पुरुषोत्तम झुनझुनवाला

वितरक और प्रकाशक
गोपीराम धानुका
कलकत्ता

श्रद्धेय गुरुजनों को एवं उन सभी लोगों को
जो समाज के उत्थान के लिये चिन्तित
हैं, और अपनी अपनी परिधि में
किसी न किसी रूप में गतिमान हैं
एवं उन्हें भी जो गतिमान नहीं
भी हैं किन्तु समाज उनकी
ओर आतुर दृष्टि से
निहार रहा है।

प्रस्तावना

समाज में बढ़ती हुई उच्छृङ्खलता एवम् विश्रृंखला आज एक चिन्तनीय विषय बन चुकी है। समाज की श्रृंखलता की कड़ियाँ टूट-टूट कर बिखर रही हैं। नूतनता अभी तक अपनी जड़ नहीं जमा सकी; और पुरातनता को लोग अनुपयोगी, अशिव और असामयिक बता कर विनष्ट कर देना चाहते हैं। पुरानी परम्पराओं में जो दोष आ गये हैं, उन्हें तो प्रत्येक विचारशील व्यक्ति मानेगा ही, किन्तु उन दोषों का निराकरण करने के बजाय उन परम्पराओं को ही नष्ट कर देना कदापि उचित नहीं। क्रान्ति का अर्थ सुधार या पुर्ननिर्माण होता है, आमूल विध्वंस करना नहीं। अगर हमारे सुधारक विचार करें तो उन्हें परम्पराओं एवम् रूढ़ियों का आधुनिक रूप कितना भी भद्दा एवम् दोषपूर्ण दिखाई दे; किन्तु उनका मूल रूप कभी भी अकल्याण-कारी नहीं है। इसलिए उनका इस प्रकार विध्वंस करना उचित नहीं। इससे समाज की ऐक्यता श्रृंखला, एवं सहकारिता नष्ट हो रही है और एक ऐसा नया समाज जन्म ले रहा है जिसमें अनेक्यता है, विश्रृंखलता है और असहकारिता है—यह स्थिति सचमुच चिन्तनीय है।

प्रस्तुत पुस्तक इसी विषय को हमारे विचार-पथ में लाकर रखती है। लेखक ने विचार करने के लिए सामग्री दी है, बखूबी अत्यन्त सरल रूप में दिशा संकेत किया है और उन सुधारकों को जो नव-निर्माण के नाम पर शायद अनजान में ही विनाश का सृजन कर रहे हैं, थोड़ा रुक कर पुनः विचारने की प्रेरणा दी है।

लेखक ने जो कुछ लिखा है, वह किसी पर व्यंग या आक्षेप नहीं, वह तो स्थिति का दिग्दर्शन मात्र है। लेखक का मन्तव्य यह दिखलाना है कि हम क्या हैं और स्वयं के विस्मरण से कहां तक भटक पड़े हैं

एवं हम अपने वर्तमान पर विचार कर समय रहते ही सम्भल कर हमें क्या बनना है और कैसे बनना है उस पर अविलम्ब कार्यबद्ध-हो जावें।

प्रगतिवाद के नाम पर हम अनेक पतनकारी परिवर्तनों को जन्म दे रहे हैं। हमारे युवक-युवतियों में बढ़ती हुई अनुशासनहीनता आज हमें विचार करने के लिए बाध्य करने लगी है। देश और समाज का हरएक विभाग यही शिकायत करता है कि हमारी सन्तानें अनु-शासन या नियन्त्रण नाम के शब्दों को ही समाप्त कर देना चाहती है। इसका कारण? इसके लिए उत्तरदायी कौन?

लेखक इसे आपके सामने प्रस्तुत करता है और कहता है कि आप निष्क्रिय क्यों बैठे हैं? समाज का कोई भी कार्य केवल कुछ विशेष व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं है बल्कि यह प्रत्येक का अपना कार्य है। यह विचारणीय है।

देश के कुछ आधारभूत सुधार जैसे शिक्षा, न्याय पद्धति वगैरह के ऊपर भी लेखक ने अपने कुछ विचार Basic Reforms for the nation पुस्तक में प्रस्तुत किये हैं। आशा है सभी लोग इन पर गम्भीरता से विचार करेंगे एवं इस प्रकाशन को सार्थक करेंगे।

गोपीराम धानुका

निवेदन

साधारणतया लोगों का सर्वप्रथम ध्यान कोई भी सुधार की बातों पर न जाकर उपदेश व सुधार की बातें कहने वाले के व्यक्तिगत व्यवहार पर ही आलोचनात्मक दृष्टि से हुआ करता है। उसकी बातों का तौल भी उसके कथनी और करनी में सामञ्जस्यता के परिमाण पर ही किया जाता है। किन्तु यहां लोग यह भूल न करें कि किसी भी वस्तु को यथार्थता में जानना एक पहलू है एवं फिर उसे अपने व्यवहार में लाना दूसरा। किसी कारण से यदि दूसरा पहलू किसी व्यक्ति विशेष के जीवन में पूर्णरूपेण कार्य रूप में न भी हो सके तो पहले पहलू की महत्वता किसी भी प्रकार कम नहीं हो जाती। हां, यह भले ही देखा जावे कि कहने वाला स्वयं इस ओर कम से कम अग्रसर है या नहीं। अतएव व्यक्तिगत रूप से उस दिशा में मैं सभी गुरुजनों के आशीर्वाद, स्नेहमय पथ-प्रदर्शन एवं सभी साथियों के शुभ-कामनाओं की कामना करता हूँ।

किन्तु व्यक्तिगत जीवन के व्यवहार के आधार पर ही विषयों की यथार्थता को नाप कर विषयों का महत्व कम न किया जाय ऐसा नम्र निवेदन है।

प्रत्येक मनुष्य के जीवन में दोराहे हुआ करती हैं—ऐसे अवसरों पर संकल्प विकल्पों में मनुष्य कई बार हार भी खा जाते हैं एवं सही मार्ग से विचलित भी हो जाते हैं। सामा-

जिक अनुष्ठानों के प्रति सर्वदा शुष्क रहने के कारण वैवाहिक रीति-रिवाजों को जानने व विशेष विचार करने का स्वभावतः अभी तक अवसर नहीं मिला था। अपने विवेक के अनुसार कई रीति-रिवाजों में विकृति आई हुई सी प्रतीत हुई, उनका प्रत्यारोध करने के मार्ग में कई समालोचनायें भी सुननी पड़ती हैं; जैसे केवल दो एक लोगों के करने से ही क्या होगा इससे समूचा समाज थोड़े ही सुधर जायगा या कोई मनुष्य भी इसके लिए बधाई नहीं देगा जो सुधारक हैं वे तो केवल दूसरों को ही सीख देते हैं इत्यादि। किन्तु इन बातों से मेरा कोई सरोकार नहीं। कारण न तो मैंने दुनिया को दिखाने के लिए एवं किसी बधाई की आकांक्षा से कुछ किया है जिस कारण कि बधाई न मिलने पर मुझे निराशा हो, न मैं दुनिया व समूचे समाज को सुधारने का कोई झंडा व ठेका ही लिया हुआ हूँ जिस कारण मेरे करने से समूचा समाज सुधर जायगा या नहीं यह भावना मुझे विचलित कर सके। मेरा व्यवहार किसी कार्य की औचित्यता और अनौचित्यता पर स्वतन्त्र विवेक से ही प्रेरित है। इसके साथ और दुनिया वाले क्या समझते हैं तथा मुझे यश मिलेगा कि नहीं वैसी मेरी कोई आकांक्षा नहीं। उसी तरह कई ऐसे भी हैं जिनकी प्रवृत्ति सभी कार्यों में सन्देह की दृष्टि से देखने की होती है एवं सोचते हैं कि ऊपर से कहने से क्या हुआ औरों की तरह अन्दर ही अन्दर क्या पता क्या क्या करते होंगे। किन्तु दूसरे लोगों का मेरे व्यवहार की सत्यता पर कितना विश्वास है वह मेरा चिन्ता का विषय नहीं। और न ही

उन्हें आग्रह से कुछ विश्वास दिलाना उचित एवं प्रयोजनीय प्रतीत होता है।

ऐसा भी अनुभव होता है कि अपना समाज द्रुत गति से बिखर रहा है। इसके मुख्यतः दो कारण प्रतीत होते हैं। पहला कि आजकल रीति-रिवाजों को हम मनुष्य से ज्यादा महत्ता देने लग गये। यह भूल गये हैं कि रीति-रिवाज समय समय पर उस समय की जरूरतों के अनुसार मनुष्य के सुविधा के लिए बनाये गये थे न कि मनुष्य रीति-रिवाजों के लिए बना है। दूसरा कारण कि पहले जो समाज की पंचायत द्वारा अपने समाज में एकबद्धता थी, वह विलुप्त हो जाने से समाज छिन्न-भिन्न होकर बिखरना शुरू हो गया है। इसी की मीमांसा 'समाज बिखर रहा है' के अध्याय में संक्षेप में वर्णित करने का प्रयत्न किया है।

समाज की वर्त्तमान अवस्था का विवेचन करते समय कुछ लोगों को मेरी भाषा शायद कटु लगे; किन्तु जो बात जैसी है उसे उसी रूप में रखना उचित समझा है। जब तक वे स्पष्ट रूप से न मानी जायँ, हम अपने को कैसे सुधार सकेंगे। जब हम आपस में ही अपनी बातें कर रहे हैं तो क्यों न हम अपने गुण-अवगुणों को स्पष्ट रूप से ही देखने की चेष्टा करें जिससे हम अपना सुधार शीघ्र ही कर सकें। इसके अलावा इस विवेचन में कई लोगों को अपना प्रतिबिम्ब भी नजर आ सकता है। अतएव इस विषय में भी मैं यह स्पष्टीकरण कर देना उचित समझता हूँ कि वास्तव में जो मैंने देखा है मेरा अनुसन्धान और अनुभव का आधार होते हुए भी किसी भी व्यक्ति विशेष को

इंगित करना या उसे किसी भी प्रकार हेय दर्शाना मेरा बिन्दु-मात्र भी लक्ष्य नहीं।

जब तक एक संयुक्त योजना सम्भव नहीं हो जाती है, तब तक प्रायः सभी मनुष्य अपने अपने ढंग से अपनी २ परिधि में कुछ न कुछ विचार किया करता है। मेरा भी समाज की स्थिति का यह विश्लेषण करना इसी तरह के विचार का एक प्रतिफल है। इसकी क्या सार्थकता है, मैं अनुमान नहीं कर सकता। और न ही मैंने यह इस विचार से कि इसकी सार्थकता बहुत ज्यादा होगी और मुझे इससे कुछ लाभ होगा, किया है। हाँ, जो कुछ भी मैंने यह किया है सद्भावना और कर्त्तव्य ज्ञान से प्रेरित होकर ही एवं इस विश्वास से कि सद्‌भावना द्वारा प्रेरित कार्य की कुछ सार्थकता अवश्य होती ही है।

यहां जो भी विवेचन किया गया है वह स्वयं के स्वतन्त्र रूप से सोचने की शैली के अनुरूप ही है। कारण, विशेष प्रकाश व किसी से इस ओर कुछ स्पष्टीकरण न मिलने पर अपनी ही विचार-शक्ति पर निर्भर रहना पड़ा है अतएव इसमें उद्धृत दृष्टिकोण को न तो एक ब एक प्रमाणिक ही मान लेना चाहिये और न ही जहां दृष्टिकोण में कुछ गाम्भीर्य का अभाव मिले वहां लोगों को मखौल ही करना चाहिए। यह तो सभी रीति-रिवाजों की महत्ता के अन्वेषण की ओर केवलमात्र एक नम्र प्रयास ही है।

कोई भी विकृति या अनियमितता देश के किसी भी अकेले केवल एक समाज में कभी नहीं हुआ करती। यह तो देश के सर्वसाधारण लोगों में किसी भी कारण किसी समय स्वयं के

स्वाभिमान का विस्मरण व्यापक रूप से हो जाने पर प्रतिक्रिया-स्वरूप उस देश के सभी समाज में एक रूप ही कम अधिक मात्रा में समान रूप से हुआ करती है। अतएव जो बातें एक समाज के लिए लागू हो सकती हैं, वही उस समयाकालीन सभी समाज के उपयुक्त भी प्रायः हुआ करती है। अतएव इसके विचार एक ही समाज के लिए सीमित और जाति संकीर्ण न समझा जावे।

मैं साहित्यक नहीं, स्वभावतः ही भाषा सुसंस्कृत नहीं होगी। अतएव, यह अनुरोध है कि पाठकगण भाषा और शब्दों की शैली पर विशेष ध्यान न देकर भावों पर ही ध्यान दें।

५४।ए, जकरिया स्ट्रीट
कलकत्ता–७

पुरुषोत्तम झुनझुनवाला

प्रेरणा

—o—
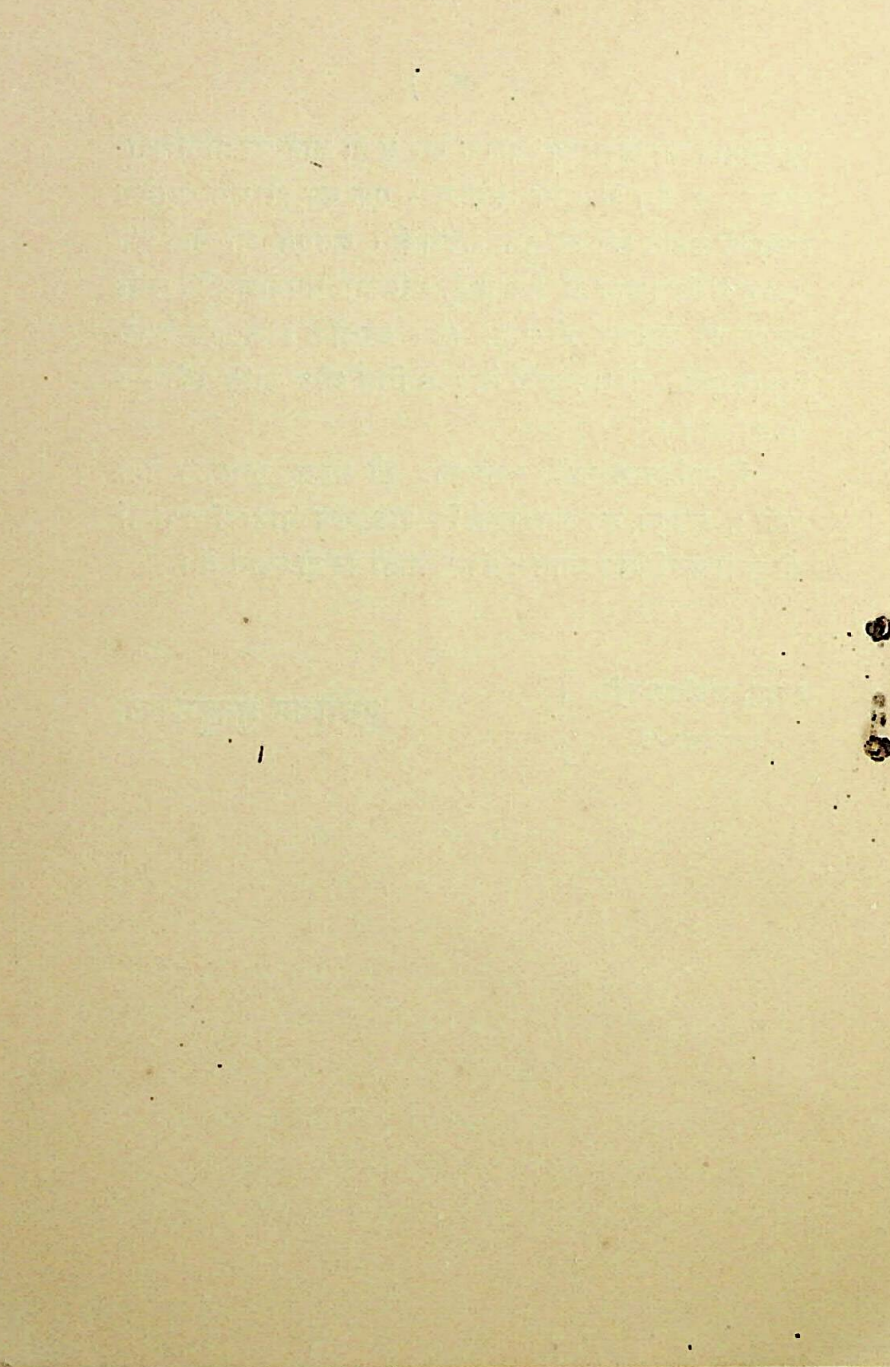
माँ, बस यह वरदान चाहिये,
जीवन का बस अभिमान चाहिये ।
जीवन पथ जो कटंकमय हो,
विपदाओं का घोर वलय हो ।
किन्तु कामना एक यही बस,
प्रति पल पग गतिमान चाहिये।। माँ, बस०।।
जीवन के इन संघर्षों में,
दु:ख कष्ट के दावानल में।
तिल तिल कर तन जले न क्यों पर,
होठों पर मुस्कान चाहिये ।। माँ, बस०।।
कंटक पथ पर गिरना, चढ़ना,
स्वाभाविक है हार जीतना ।
उठ-उठ कर हम गिरें, उठें फिर,
पर गुरुता का ज्ञान चाहिये ।। माँ, बस०।।
हास मिले या त्रास मिले,
विश्वास मिले या फांस मिले ।
गरजे क्यों न काल ही सम्मुख,
जीवन का अभिमान चाहिये ।। माँ, बस०।
मेरी हार देश की जय हो,
स्वार्थ भाव का क्षण-क्षण क्षय हो ।
जल-जल कर जीवन दूं जग को,
बस इतना सम्मान चाहिये ।।
माँ ! बस यह वरदान चाहिये !

अनुक्रमणिका

—०—

दहेज समस्या पर एक समीक्षा

दहेज की समस्या दिन प्रतिदिन विषम ही होती जा रही प्रतीत होती है और यह जानकर और भी विस्मय होता है कि दहेज विरोधी आन्दोलन आज ७० वर्षों से भी अधिक समय से कलकत्ते में चलता आ रहा है एवं १९०८ में बनाये गये नियमों के पश्चात् भी इन ४५ वर्षों में समस्या के सुलझने के बजाय ४५ गुणा विस्तार ही हुआ है, अतएव सहज ही प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों ? क्या कारण है कि वर्षों के निरन्तर प्रयत्नों के पश्चात् भी यह समस्या निरन्तर विषम ही होती जा रही है ? इसके कारण की खोज के लिए फिर हमें स्थिर चित्त होकर सभी पहलुओं पर विचार करने की नितान्त आवश्यकता हो जाती है ; कि क्या हमारा उद्देश्य व लक्ष्य ही तो गलत नहीं है कि प्रयत्न पर प्रयत्न करने पर भी आशा के अनुरूप सफलता नहीं मिल रही या सुलझाने के वर्तमान तरीके ही ठीक नहीं जिसके कारण हमारे प्रयत्नों का ठीक असर नहीं हो रहा है ? इसके उत्तर में हमारे सम्मुख जब दहेज की कुरीतियों के फलस्वरूप हो रहे अनाचार स्पष्ट हैं तब यह तो निर्विवाद रूप से निश्चित है कि अपना दहेज विरोधी अभियान तो गलत नहीं,

किन्तु फिर जब हम यह देखते हैं कि हमारे प्रयत्न सफल होने के बजाय उनकी प्रतिक्रिया उलटी ही हो रही है एवं जनसाधारण में अभियान के प्रति विश्वास की कमी होती जा रही है तब यह तो बिल्कुल स्पष्ट है कि कहीं तो भी हमारे सुलझाने के तरीकों में ही निरन्तर ऐसी गलतियां हो रही हैं जिसके कारण प्रयत्नों में जितना समय व शक्ति दी जाती है उस अनुपात में हमें सफलता नहीं मिल रही। फिर प्रश्न उठता है कि वह गलती कहां व किस रूप में है जिसका सुधार किया जावे एवं दूसरे सही तरीके कौन से हैं।

इस समस्या के विश्लेषण के लिए फिर हमें दहेज क्या है, उसकी उत्पत्ति क्यों व कब हुई आदि प्रश्नों के अनुसन्धान की आवश्यकता पड़ जाती है। किन्तु शायद यह एक वृहत् दार्शनिक रूप हो जाय अस्तु संक्षेप में ही वर्तमान तरीकों को ही एक एक कर विचार विमर्श करते हुए अपनी गलतियों को समझने की चेष्टा कर सकते हैं।

(अ) प्रचलित प्रणालियों का विवेचन

जब भी कहीं इस विषय पर सम्मेलन एवं बैठकें होती हैं, विभिन्न लोग अपनी अपनी विचारधारा विभिन्न रूपों में व्यक्त करते हैं, उनको साधारण रूप से हम निम्न वर्गों में विभक्त कर सकते हैं :

१. कुछ लोगों का कहना है कि दहेज समस्या तभी गुरुतर हो जाती है जब मनुष्य अपने से ऊंचे स्तर के सम्बन्ध की कामना

करता है। यदि वह ऐसा करना छोड़ दे तो यह दहेज समस्या अपने आप समाप्त हो जायेगी।

२. कुछ लोग साज सजावट्ट एवं दिखावा पर आपत्ति करते हैं एवं इन्हें आडम्बर व कुरीति समझ कर इनके त्याग में ही समाधान समझते हैं।

३. कुछ लोग सभी जान पहिचान वालों को विवाह पर निमन्त्रण देने की आपत्ति करते हैं और इसके ही त्यागने पर जोर देते हैं।

४. कुछ लोग आर्थिक विषमता को ही दहेज का मूल कारण मानते हैं एवं समझते हैं कि इसके दूर हुए बिना दहेज कभी भी दूर नहीं होगा।

५. कुछ लोग सभा व जुलूस के जोश व क्रान्ति में ही विश्वास करते हैं।

६. कुछ लोगों का मत है कि जितने भी नेग, रीति-रिवाज होते हैं इनमें काट छांट कर लेन देन का एक निश्चित फार्मुला ही बना दिया जाय जैसे कि समय समय पर मुद्दों वगैरह के अवसर पर एक रुपया लेने का नियम व हरे भरे में नियंत्रण आदि।

७. कुछ लोग इससे भी शार्ट कट पसन्द करते हैं कि विवाह कम से कम समय याने १,२ घंटे में ही समाप्त कर देना चाहिये जिससे जिम्मनवार व कोई नेगचार की आवश्यकता ही न पड़े।

बहुधा मनुष्य ऊंचे आदर्श की बातें तो करता है किन्तु यथार्थता व व्यावहारिकता से उचित सामंजस्य के अभाव में

उसका प्रयास प्रायः विफल हो जाता है। जिस तरह पहली विचारधारा के जो लोग समझते हैं कि मनुष्य अपने से ऊंचे स्तर के लोगों से सम्बन्ध करना छोड़ दे तो यह सिद्धान्त तो मनुष्य स्वभाव के ही विपरीत है क्योंकि मनुष्य स्वभावतः उन्नतिशील है एवं अपना साथी अपने से बढ़कर खोजने की चेष्टा करता है। यदि ऊंचा न भी मिल सके तो कम से कम वह अपने बराबर वाले की तो चेष्टा करता ही है जिससे सम्बन्ध न्यायोचित कहा जाय। हां, यदि कहीं गुदड़ी में लाल हो तो उसे केवल आर्थिक विषमता के कारण ही छोड़ देना ठीक नहीं एवं न अपने से नीचे के स्तर से सम्बन्ध करने में कुछ दोष ही है बल्कि इसमें सम्बन्ध करने वाले की उदारता एवं उसका विकसित व्यक्तित्व ही परिलक्षित होता है। किन्तु प्रश्न है कि क्या औसतन सभी से हम ऐसा भरोसा रख सकते हैं ?

दूसरी विचारधारा के लोग जो साज सजाई को अनावश्यक व आडम्बर समझते हैं, वह भी मनुष्य स्वभाव के विरुद्ध है। किसी सन्तान के विवाह में उसके माता पिता, स्वजन बन्धु सभी को उल्लास होना स्वाभाविक है एवं स्वभाववश सभी अपनी अपनी सामर्थ्य के अनुसार साज सजाई के रूप में अपने हर्ष को व्यक्त करते हैं। दीपावली में भी घर घर दिये जलते हैं। निर्धन से निर्धन मनुष्य भी कहीं न कहीं से एक दीया व बत्ती का प्रबन्ध कर दीपावली मनाता है। और फिर विवाह तो उससे भी कहीं बढ़ कर आनन्द का प्रसंग है। उस अवसर पर हम किसी को आनन्द व्यक्त करने को मना करें

तो यह कैसे युक्ति संगत हो सकता है। यही कारण है कि जुलूस, पिकेटिंग व सभी प्रयत्नों के पश्चात् भी हर बार के विवाहों में उसी तरह साज सजाई होती रहती है। अपनी समस्या अगर यह है कि सजावट के साथ बारात ले जाने से रास्ता अवरुद्ध हो जाता है और लोगों को तकलीफ होती है जिससे वैमनस्य बढ़ता है, तो फिर लोगों से हमारा अनुरोध प्रत्यक्ष रूप से यह होना चाहिए कि वे इस ढंग से साज सजाई व खुशी मनायें कि दूसरों को इससे तकलीफ न हो एवं जब बारात निकले तो इस ढंग से निकाली जावे कि पूरा का पूरा रास्ता अवरुद्ध न हो जाय। ज्यादा लाउड स्पीकर वगैरह लगा कर इस तरह रेकार्ड न बजावें कि पड़ोस के लोगों की शान्ति एवं आराम में खलल पड़े।

वही बात तीसरी विचारधारा के विषय में भी है। हम आये दिनों ही समय समय पर अपने मित्रों व जान पहचान के लोगों को निमन्त्रण देते रहते हैं और फिर विवाह जैसे बड़े अनुष्ठान के अवसर पर उल्टा निमन्त्रण न दें, यह अयुक्ति-संगत है। जब कहीं से कोई नेता व मन्त्री आदि आते हैं तो उनके स्वागतार्थ हम चाय पार्टी, डिनर पार्टी देने में नहीं चूकते न उसे कोई अनावश्यक समझते हैं। फिर विवाह जैसे मांगलिक अवसर पर बन्धुबान्धव, जानपहचान के लोगों को निमंत्रण न दें यह कैसे सम्भव हो सकता है। बल्कि यह तो अव्यवहारिकता होगी। मनुष्य सामाजिक जीव है और समाज के अधिकाधिक मनुष्यों के साथ मेल जोल रखना उसका स्वभाव है और समय समय पर ये प्रीति भोज आपस में आत्मी-

यता बढ़ाने के ध्येय से ही होते हैं एवं ऐसे आपसी मेल-मिलाप पर ही समाज का अस्तित्व निर्भर भी है ।

चौथी विचारधारा के जो लोग आर्थिक विषमता को ही मूल कारण मानते हैं वे भी प्रतीत होता है कि एक अशक्य आदर्श की भ्रान्ति में हैं। क्या वे कभी यह विचार करने की चेष्टा करते हैं कि भूतकाल में कभी भी ऐसी आर्थिक विषमता न थी या वर्त्तमान में किसी भी देश में यह नहीं है व यह स्थिति कभी भी होनी स्वाभाविक प्रतीत होती है ? केवल कोरे आदर्शों के ही खयाली पुलाव पकाने से तो काम नहीं चल सकता किन्तु यह सोच कर भी देखना चाहिए कि ऐसा किस हद तक व्यवहारिक है। जो लोग आज के बढ़ते हुए मनुष्य मनुष्य के भेद व वैमनस्य का कारण आर्थिक विषमता मानते हैं, उनसे मुझे शंका है, अपने स्वयं को ही धोखे में रखकर व्यर्थ ही अपने मस्तिष्क में एक विद्रोह को प्रश्रय दे रहे हैं। राम राज्य एक लोकोक्ति बन गई है, किन्तु क्या रामराज्य में यह आर्थिक विषमता न थी ? क्या उस समय कोई अमीर वा गरीब न था ? किन्तु फिर भी सब प्रसन्न थे, क्यों ? क्योंकि उनके स्वभाव अथवा मनुष्य मनुष्य के व्यवहार में उनकी अमीरी व गरीबी का प्रश्न न आता था। आज तो एक मनुष्य दूसरे को अपने से हेय समझता है। व्यर्थ की अहंकार की मात्रा बढ़ गई है। वास्तविक जरूरत तो इस अहंकार को दूर करने की एवं लोक व्यवहार सिखाने की है न कि व्यर्थ ही एक अनावश्यक व अशक्य आदर्श के नाम पर उलटे एक भ्रान्तिपूर्ण क्रान्ति को प्रश्रय देने की :

पांचवीं विचारधारा के लोग जो समझते हैं कि केवल सभा पिकेटिंग व जुलूसों द्वारा ही स्थिति को सुलझा सकते हैं, वह भी भ्रान्तिपूर्ण है। सभा व जुलूसों से तो केवल एक क्षणिक जोश की सृष्टि की जा सकती है जो अन्तर्ज्ञान व अन्तरीय प्रेरणा के अभाव में केवल अस्थायी ही होती है। ऐसे लोग कम नहीं जो जोश में आकर सभामंडल में प्रतिज्ञा तो कर लेते हैं कि वे पर्दा के विवाह में भाग न लेंगे एवं अपने स्वयं के विवाह में व अपने बच्चों के विवाह में दहेज का लेनदेन न करेंगे। किन्तु समय पड़ने पर वे जोश में आकर की हुई प्रतिज्ञा की उपेक्षा करने में कुंठित नहीं होते और न ही परिस्थितिवश वे इच्छा रहने पर भी पालन कर पाते हैं और जो प्रतिज्ञा पर चिपके रहते हैं वे एक तरह से लकीर के फकीर होकर कई अन्य और विषमतायें खड़ी कर देते हैं। यदि प्रत्येक को यह विदित हो जाय कि किस समय में उसका क्या कर्त्तव्य है और किसी भी समस्या के पहलू उसके मस्तिष्क में स्पष्ट रहें तो वह स्वयं ही अपना कर्त्तव्य निर्धारित कर लेगा। साधारणतः सभाओं में जोश से की गई प्रतिज्ञा तो मस्तिष्क के अस्थिरता का परिचायक है, जिसका आधार स्तम्भ जोश कालान्तर में ठण्डा पड़ने पर डिग जाती है। ऐसे उदाहरण कम नहीं हैं कि प्रतिज्ञा को निभाने स्वरूप एक बार अपने प्रथम सन्तान का विवाह जब विना साज सजाई के एवं तथाकथित सुधारक ढंग से करने पर उन्हें जब मजा नहीं आया तो बाद के अन्य सन्तानों का विवाह फिर पुराने ढंग से चालू करने को विवश हो गये। साथ-साथ ऐसे भी उदाहरण कम नहीं बल्कि आजकल ऐसों

की ही भरमार है कि अपने सुधारवाद की रक्षा भी करना चाहते हैं और लोभ को भी संवरण नहीं कर पाते। ऐसे ही संघर्ष के बीच दोनों ही पहलुओं की सिद्धि करने के प्रयत्न में फिर वे अन्य गुप्त एवं अप्रत्यक्ष रूपों में दहेज लेना आरम्भ कर देते हैं, जो और भी भयंकर स्थिति उत्पन्न कर देते हैं।

(१) ऐसी स्थिति उन लोगों को अन्तरात्मा में अपराधी बना कर उनका नैतिक पतन कर देती है—जो अपने को अन्तरात्मा में अपराधी समझते हुए परन्तु बाहर सुधारक घोषित करते हुए हर समय चोर और कापुरुष की भावना से त्रस्त होकर अपना आत्म विश्वास और जीवन का अभिमान खो बैठते हैं।

(२) दुनिया न जानने पावे तब भी कम से कम लड़के वालों के समधी (कन्यापक्ष) एवं उनके कुछ अन्य लोगों से तो यह छिपा नहीं रह सकता। जो भले ही समधी हो जाने के नाते उनका ऊपर से आदर करते रहें किन्तु अपने अन्तर में तो उन्हें चालबाज समझ ही लेते हैं। ऐसी स्थिति क्या उन्हें जलील नहीं करती ?

(३) जो लड़की वधू बन कर आती है उसके मस्तिष्क में यह स्थिति और भी भयंकर प्रतिक्रिया करती है। वह जिसे अपना पति एवं सास श्वसुर मान कर उन्हें अपने हृदय में ज्याद से ज्यादा सम्मान देने की आकांक्षा करती थी, उसकी वही आकांक्षा धूलधूसरित हो जाती है। इसकी प्रतिक्रिया प्रत्यक्ष रूप में भले ही न हो किन्तु उसके हृदय से अपने पति के प्रति जो उच्च जीवन के अभिमान का आदर्श रहता है वह अवश्य ही शेष हो जाता है, जो समय समय पर उभर आने से

बहुधा यह बात अपने पति को उलाहना के रूप में जलील किये बिना भी नहीं रहती। पति तो स्त्री के लिए एक खूंटे के रूप में है जिसकी परिधि में स्त्री को अपना जीवन निभाना पड़ता है अतएव उसे अभिमान के हार की घूंट पीकर भी उसके ही परिधि में रहने को विवश होना पड़ता है ; किन्तु इसके अलावा उसके जीवन का सबसे बड़ा अभिमान रह नहीं जाता। यह अवस्था किसी भी स्वाभिमानी पति के लिए असहनीय हो सकती है ?

(४) इतना ही नहीं जब लोग लोभ को संवरण करने में असमर्थ होकर दहेज अप्रत्यक्ष रूप से लेते हैं तो हर काम उन्हें और लोगों से छिपा छिपा कर करना पड़ता है जो धीरे धीरे उन्हें और लोगों से दूर करता जाता है, एवं आपसी सहृदयता के बीच में खाई उत्पन्न हो जाती है जो सामाजिक दृष्टि से अत्यन्त ही हानिकर है।

इसका यह तात्पर्य भी नहीं कि प्रतिज्ञा करवाने के तरीके का अवलम्बन ही न किया जाय। किन्तु जहां तक हो ऐसी प्रतिज्ञा अन्तर्ज्ञान से हो। असल जरूरत दहेज के हर पहलू पर लोगों के ज्ञान को विकसित करने की है। सभा जुलूस भी करें, और उससे लाभ भी अवश्य है, किन्तु बौद्धिक विकास और अन्तर्ज्ञान के अभाव में वे सब अपूर्ण एवं कई स्थल पर हानिकर भी हो जाते हैं।

छठी विचारधारा के अनुसार जो निश्चित फार्मूला बनाने में विश्वास रखते हैं, उनके सम्मुख पिछले कई वर्षों के उनके प्रयत्नों के फल स्वयं उदाहरण स्वरूप विद्यमान हैं एवं अब यह

उनके ऊपर निर्भर है कि वे वास्तविकता को स्वीकार कर दूसरी प्रणाली के विषय में सोचें या बार बार वही भूल करते जायं। मुद्दे वगैरह में १ रुपया ही लिया जाय एवं हरा भरा में नेग निर्धारण किया जाय आदि प्रतिवर्ष निर्धारित किया जाता है किन्तु अबतक उसका मान्य कितनों ने किया ? इसके अलावा जो प्रस्ताव पास किये जाते हैं उनको मानने के लिए वाध्य करने की अपने पास क्षमता ही क्या है। यह तो केवल नैतिक अभिमान एवं लोगों के विवेक को जगा कर ही हो सकता है जिससे कि वे स्वयं ही इस ओर प्रेरित हों। अतः इसके लिए कोरे प्रस्ताव व नेग निर्धारित करना वास्तविक रास्ता नहीं। इसके अलावा यह भी सर्व विदित है कि इन नियमों से बचने के लिए नये नये तरीकों के आविष्कार करने में अपना समाज प्रवीण है। इसके बदले असल तरीका यह होगा कि अपनी अभी की जितनी भी प्रचलित रीतियां हैं उनके विषय में सोचा जाय व उनके महत्व का विश्लेषण किया जाय। फिर उन विश्लेषणों को लोगों के सम्मुख रक्खा जाय एवं बताया जाय कि किस रीति का पुराने समय में क्या महत्व रहा है। आज के परिवर्तित युग में क्या बदल हुआ है। अब इसकी जरूरत है या नहीं। इसमें क्या क्या वृक्तियां हुई हैं। किस तरह इसमें सुधार किया जाय। इस तरह विश्लेषण करने से लोगों की प्रवृत्ति स्वयं इस ओर कुछ सोचने को अग्रसर होगी। वे स्वयं ही अपना कर्त्तव्य निश्चित कर सकेंगे। जबरदस्ती किसी चीज को लादने से तो कोई फल मिलने वाला नहीं।

सातवीं विचारधारा के जो लोग हैं कि १,२ घंटों में ही

विवाह कर लड़की को घर ले आना चाहिए, इस विषय में यदि मैं कहूं कि यह उच्छृंखलता फैलाने का खुला रास्ता होगा तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। जिन देशों में इस तरह के विवाह पहले से ही हो रहे हैं, उनके सामाजिक व्यवस्था म स्पष्ट रूप से उच्छृंखलता नजर आती है, और इससे घबड़ा कर वे लोग जब विवाह वगैरह के तरीकों में स्वयं सुधार करने जा रहे हैं, उस समय हम प्रगतिवाद के नाम पर यदि उसी हजारों वर्षों के पुराने पाशविकता के गड्ढे में वापस जाने की चेष्टा करें तो फिर अपने हाथों अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारने के सिवाय और क्या कहा जाय। उक्त विचारधारा के लोग क्या कभी प्रामाणिकता से हिन्दू विवाहों में होने वाले नेग चार व सांस्कृतिक विधियों का भीतरी मर्म भी समझने की चेष्टा किये हैं? शास्त्रों व सामाजिक परम्पराओं के अनुसार हमारे विवाह के समय किये जाने वाले विधि-विधान हमारे हजारों वर्षों की अनुभूति के आधार पर स्थित हैं एवं प्रत्येक छोटे व बड़े विधि विधान में कोई न कोई गूढ़ तत्व छिपा हुआ है जिसका दम्पत्ति एवं समाज पर एक तरह का अज्ञात रूप से प्रभाव पड़ता है जिसके कारण वर वधू को यह अनुभव होता है कि एक विशेष पुण्यतिथि पर वे किसी नये क्षेत्र में प्रवेश कर रहे हैं। जिसे उन दोनों को आपस में एकबद्ध होकर पार करना है जहां बाहरी सौन्दर्य व आडम्बर उतना महत्व नहीं रखता जितना उनकी आत्मा का एक हो जाना—यही कारण है कि आज भी भारत में जबकि पाश्चात्य सभ्यता रोम रोम में व्याप्त हो रही है, एक पुरुष अपनी स्त्री के कुरूप

होते हुए भी सुखपूर्वक बिना उच्छृंखलता के अपना जीवन व्यतीत कर पा रहा है। उसी तरह एक सुन्दर स्त्री भी अपने कुरूप पति को ही अपना आराध्यदेव मान कर जीवन में सुख अनुभव कर पा रही है। यह जो शारीरिक सौन्दर्य पर आत्मिक बन्धन और एकरूपता की विजय है यह इसी देश में इतनी व्यापक रूप से देखने को मिलती है। लोग भले ही कहें कि यह तो प्यार की गहराई पर निर्भर है किन्तु वे यह न भूलें कि भारतवर्ष ही ऐसा देश है जहां विवाह पहले होता है और प्यार बाद में। शारीरिक सौन्दर्य में विभिन्नता होते हुए भी इस प्यार का सृजन होता है और इस अनुपमता का कारण हमारे विवाह के रीति-रिवाज एवं परम्परागत संस्कार ही हैं यदि इसे उठा दिया जाय तो फिर भारत उसी प्राथमिक अवस्था पर पहुंच जायगा जिसको पार करने में इसे हजारों वर्ष लग गये और अन्य देश उस अवस्था से मुक्त होने के लिए छटपटा रहे हैं। यह हिन्दुओं के इन संस्कारों का ही फल है कि विदेशी कितने ही लोग अपने ऐश्वर्य को तिलांजलि देकर हिन्दू बन गये जबकि प्रत्येक हिन्दू जो भी पश्चिम के तरफ आकर्षित हुआ है केवल वहां की चकाचौंध में आकर ही, और जिसका पश्चाताप प्रायः उसे करना पड़ा है।

हां, यह अवश्य है कि समय के साथ हमारे सांस्कारिक रीतियों में कुछ विकृतियां आ गयी हैं एवं उनका महत्व समझने व समझाने वाला कोई न रहने के कारण वे आडम्बर सरीखी ही प्रतीत होने लगी हैं। किन्तु जब समाज सुधार का हम भार लेते हैं तो वह हमारा ही कर्त्तव्य होता है कि पहले हम अपनी

रीति-रिवाजों को चारों तरफ से अध्ययन करें एवं लोगों को वास्तविक महत्ता से अवगत करावें। इस विषय में यदि अच्छी तरह सोच समझ कर दूरदर्शिता से काम न लिया गया तो अभी तो हम चटपट के विवाह का उपदेश देते हैं, फिर हमारे सम्मुख इसके फलस्वरूप उत्पन्न हुई उच्छृंखलता की समस्या और भी प्रबल रूप लेकर खड़ी हो जायगी जो सुलझाये न सुलझेगी। फिर प्रत्येक के मुंह पर यही होगा कि आजकल के युवक तो विवाह करना और तोड़ना एक खेल-सा समझ लिये हैं एवं चारों ओर चारित्र्य की न्यूनता व घर घर अनैतिक सम्बन्ध की तूती बोल रही होगी। उस स्थिति को संभालना और भी दुस्तर हो जायगा, अतएव यह ख्याल रहे कि एक कार्य को ठीक करते करते कहीं दूसरी समस्या उससे भी विकट रूप में न उत्पन्न हो जाय।

(ब) सही तरीका

अब प्रश्न यह है कि अगर वर्तमान सभी तरीके गलत हैं तो फिर उचित तरीका कौन-सा है। इसके लिए फिर हमें यह देखना होगा कि हमारा लक्ष्य क्या है क्योंकि जब तक हमारा निदान ठीक न होगा चिकित्सा का गलत होना स्वाभाविक है और शायद यही कारण है कि हमारे अब तक के सब प्रयत्न असफल हुए।

(क) हमें देखना होगा कि दहेज है क्या चीज। इसे हम एक कोड शब्द कह सकते हैं जो उस खास उपहार को

विदित करने के लिए रक्खा गया है जो विवाह के अवसर पर वर-वधू को उनके स्वजन बन्धु अपने आनन्द व शुभकामना के उद्‌गारों को व्यक्त करते हुए देते हैं। इसके अलावा आज जो लड़कियों को माता पिता की सम्पत्ति में बराबर अधिकार की कानून द्वारा चेष्टा की जा रही है वह अपने हिन्दू समाज में बहुत पहले ही दहेज प्रथा द्वारा समाधान करली गई थी। भाई-बहनों में बिना प्रतिद्वन्दिता के एवं परिवार में असमय बंटवारे की कठिनाइयों के इन प्रश्नों का बड़े सरल रूप में हल कर लिया गया था। अतएव यदि दहेज इस तरह के स्वाभाविक स्नेहमय उपहार को ही विदित करता है तब तो इसमें कोई आपत्ति की बात नहीं फिर कठिनाई है कहां? इसे क्यों निन्दनीय माना जाने लगा और यह क्यों एक समस्या रूप हो गई? यह इसलिए कि दहेज ने अपने असली रूप को छोड़ कर एक जबरदस्ती का रूप ग्रहण कर लिया है और लेन-देन की प्रथा वर-वधू और स्वजन-बन्धु से बिगलित होकर समधी समधी में हो जाने से ही विकृति आ गई और एक जबर-दस्ती का रूप हो गया एवं लड़के वाले दहेज लेने को अपना अधिकार समझने लगे और असल में यही दावा करने की प्रवृत्ति की भावना ही घातक बन गई है जिसने एक बड़ी समस्या का रूप धारण कर लिया है। अतएव अब यह स्पष्ट है कि रोग दहेज नहीं बल्कि दहेज में आयी विकृति याने दहेज लेने के अधिकार की जबरदस्ती की भावना है। अतएव आवश्यकता इस अनियमित भावना के उन्मूलन की है और चूंकि दहेज मनुष्य के स्वाभाविक मनोद्‌गार का प्रतिफल है, यह उन्मूलन होना

सम्भव भी नहीं क्योंकि ऐसे उदाहरण भी कम नहीं जबकि दहेज स्वेच्छा एवं आग्रह से भी दिया जाता है और दिये बिना माता पिताओं एव भाइयों को यथार्थ आनन्द नहीं मिलता।

अपने प्रयत्न विफल हो जाने का दूसरा कारण हमारे प्रयत्न अपूर्ण रहने का भी है क्योंकि दहेज की भावना को प्रश्रय देने वाले एक गुट की हम हमेशा उपेक्षा करते रहे हैं। और वह है हमारे ही नजदीक में सहयोग देने वाले स्वयं नवयुवक गण। अभी तक हम दहेज की कुरीति के उत्तरदायित्व केवल माता पिता को ही समझ रक्खे हैं; किन्तु यह अवलोकन करना भूल ही गये कि शनैः शनैः माता पिता तो दहेज के मामले में फिर भी कुछ ढीले हो रहे हैं किन्तु नवयुवक उल्टा दहेज के लोभी हो रहे हैं। आजकल जो नवयुवक अपने को शिक्षित व सभ्य कहते हैं उन्हीं के भीतर ये भावना ज्यादा देखी जाती है कि उनका विवाह धनी घराने में हो जिससे मान-प्रतिष्ठा मिले और अपनी सभा सोसाइटियों व अखबारों में चर्चा हो। कई जगह ऐसा भी देखने को मिलता है कि माता पिता तो फिर भी दहेज के मामले में मूक रहते हैं किन्तु स्वयं वर ही दहेज कम मिलने पर निराश हुआ प्रतीत होता है फिर भी वह समाज सुधारक कहाने का दावा करता है। केवल मात्र सोचने से ही प्रत्येक के आंखों के सामने काफी उदाहरण उपस्थित हो जायेंगे जबकि लड़कों को काफी लड़कियां, पढ़ी-लिखी योग्य व सुन्दर दिखाई जाती हैं किन्तु उनके पसन्द में कोई उतरती ही नहीं। इसका कारण खोजने के लिए यदि उनके मस्तिष्क का कुछ भी विश्लेषण करने की चेष्टा की जाय तो ऊपर के

कथन की सत्यता भली-भांति विदित हो जायगी। अतएव जहां माता पिता पर दहेज के विरुद्ध दबाव डालते हैं, वहां इन नवयुवकों का स्वाभिमान जागृत कर इनका इलाज करना उससे भी ज्यादा जरूरी है और वही हम अभी तक भूलते रहे हैं!

अब प्रश्न है कि सही तरीका कौन सा है।

चूंकि दहेज एक पूरे समाज का और उलझा हुआ प्रश्न है, इसके विषय में यों एक व एक कुछ भी निश्चित कर लेना अयुक्ति संगत होगा। इसके लिए समाज के कुछ कर्णधार एवं प्रौढ़ विचारकों की आपसी मंत्रणा के लिए एक बैठक की आवश्यकता है जिसमें बिचारों के स्वतन्त्र आदान प्रदान से इस तरह की प्रणाली निश्चित की जाय कि वह एकांगी न होकर सम्पूर्ण पहलुओं को ध्यान में रखते हुए सर्वांगपूर्ण हो। यों केवल छोटी सी रूपरेखा के हिसाब से उसे कह सकते हैं कि—।

(१) सबसे पहले तो अपने प्रयत्न व अभियान का लक्ष्य दहेज को जड़ से उन्मूलन करने की मांग को बदल कर दहेज में आई विकृतियों को दूर करने की होनी चाहिए एवं सभाओं के द्वारा लोगों को यह दर्शाया जाय कि लड़के के मां-बाप होने के नाते जो दहेज लेने का वे अपना अधिकार समझ बैठे हैं वह सम्पूर्णतया अन्याय व स्वाभिमान पर कुठाराघात करने वाला है। जब हम युक्ति देकर उनको यह समझा पावेंगे कि दहेज की मांग करने का उनका कोई भी अधिकार नहीं एवं दूसरों की कमाई को यों सहज ही लेने की लालसा करना पुरुषार्थ के विरुद्ध की बात है तो स्वयं उनके मस्तिष्क में शनैः शनैः

इस विषय पर विकास होगा और उन्हें स्वयं ही लज्जा एवं आत्मग्लानि अनुभव होगी।

(२) दूसरी जितनी भी सभायें हों उनमें माता पिता पर ही सारी जिम्मेवारी न डाल कर लड़कों को भी दर्शन कराया जाय कि वे कौन हैं। हाथ-पैरों व बुद्धि से युक्त मनुष्य होने के नाते उनका भी अपना एक स्वाभिमान और कर्त्तव्य है जिसकी वे उपेक्षा नहीं कर सकते। एक गरीब स्वाभिमानी मनुष्य भूखा होते हुए भी अपना स्वाभिमान खो देने के बजाय भीख मांगने से डूब मरना ही ज्यादा अच्छा समझता है। स्वाभिमानी मनुष्य अपने पुरुषार्थ पर भरोसा रखता है और अपने ससुराल के धन की आकांक्षा नहीं करता। स्वाभिमानी मनुष्य तो केवल अपने पुरुषार्थ व पसीने की ही कमाई पर भरोसा रखता है। इस तरह के व्याख्यानों से यह ध्रुव निश्चित है कि शीघ्र ही सभी सुनने वालों का, चाहे वे माता पिता हों या लड़के हों, सुप्त स्वाभिमान जाग उठेगा और उनके मन में स्वयं दहेज के विरुद्ध विद्रोह उठ खड़ा होगा। उस समय कह सकेंगे कि अब कुछ ठोस कार्य हुआ।

(३) अभी की जो सभायें होती हैं उनमें लोगों से दहेज न लेने के आग्रह की शैली कुछ लड़की वालों पर अहसान करने जैसी है। लड़की वालों के दहेज प्रश्न पर जो दुख और कष्ट होते हैं उसे बार बार सुना कर एवं लोगों को दहेज लेने को मना इसलिए करना कि लड़की वाले इससे त्रस्त हैं और दहेज न लेने पर उन्हें राहत मिलेगी, अत्यन्त ही गलत पद्धति है। इसमें अहसान और दया कैसी। यह तो इस तरह की मिसाल

हुई कि रास्ते चलते अगर कोई दूसरे की पाकेट मारता है तो उसे कहना कि भाई तुम उसकी पाकेट इसलिए मत मारो कि उसे फिर तकलीफ होगी और इस तरह पाकेट नहीं मार कर उस पर अहसान करो! यह क्या? पाकेट मारने का उसका अधिकार ही क्या है एवं वह पाकेट नहीं मार कर अहसान ही कौन-सा करता है? बल्कि वह पाकेट अगर मारता हो तो उसकी अच्छी ठूक विद्या होती है। उसी तरह जो लोग बगुला-भगत की तरह दहेज की ताक लगाये रहते हैं, वे तो पहले से ही एक अनधिकार कार्य्य करते हैं, उसे न करने में ऊपर से अहसान क्या हुआ। अतएव सभाओं में इस तरह की अहसान करने जैसी शैली को बदल कर स्वाभिमान जगाने की शैली बर-तनी चाहिये। एक बार स्वाभिमान जागा तो वह स्वयमेव उस व्यक्ति को हर पहलू पर सोचने को अग्रसर कर देगा। कोई भी कार्य्य जहां मनुष्य को कुछ मोह त्यागना पड़े या नैतिक स्तर बढ़ाना हो वहां स्वाभिमान जागृति ही वास्तविक उपाय है।

अक्सर ऐसा कहा जाता है कि सरस्वती और लक्ष्मी का मेल नहीं—यह इसलिए नहीं कि इन दोनों देवियों में कोई झगड़ा चलता हो बल्कि इसलिए कि जो सरस्वती का भक्त हो और ज्ञान व शिक्षा से जिसका विवेक और अभिमान ज़ागृत हुआ हो वह विवेक के विरुद्ध कोई भी अनैतिक कार्य्य कर नहीं सकता है जिनसे कि प्रायः लोग ज्यादा धन संचय करने में समर्थ होते हैं। अतएव सामाजिक व राष्ट्रीय किसी भी उत्थान कार्य्य के लिए विवेक और स्वाभिमान जागृति की ही सर्वप्रथम जरूरत है।

(४) यहां यह भी सावधानी रखनी जरूरी है कि आज-कल इस तरह के बहुत विवाह देखने में आते हैं कि लोक-लज्जा के डर से माता पिता ऐसी चालाकी करने लगे हैं कि अपने मुंह से तो यह कह देते हैं कि हम कोई दहेज न लेंगे किन्तु साथ साथ यह भी कह देते हैं कि आप अपनी लड़की को कुछ देवें तो हमें आपत्ति न होगी। यह एक ऐसा चालाकी का तरीका है कि जिससे वे लोगों की आंखों में धूल झोंकते हुए लड़की वालों को भी दोहरी मार मारते हैं और खुद दूसरे रूप से दहेज लेते हुए भी भलेमानुष बने रहते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि वे स्वयं को भी इस तरह धोखा देते हैं और अपनी आत्मा का भी हनन करते हैं। इसको रोकने के लिए सभाओं में इस विषय पर भी प्रकाश डालना चाहिए कि जब स्वयं को न लेना हो तो उनका अधिकार स्वयं के लिए केवल ना करने का ही है किन्तु यह न कहें कि चाहें तो वे लड़की को दे दें। क्योंकि ज्यों ही वे ऐसा कहते हैं त्यों ही अप्रत्यक्ष रूप से लड़की वालों पर देने का भार आ ही जाता है, अतएव सामर्थ्य न रहने पर भी वे देने के लिए बाध्य हो जाते हैं।

(५) साथ साथ लड़कों की तरह लड़कियों का भी स्वाभिमान जागृत करना चाहिये। क्योंकि ऐसे भी बहुत से उदाहरण देखने को मिलते हैं कि दहेज में एवं लेने देने में कुछ कमी रह जाने पर लड़कियां अपना अपमान हुआ बोध कर रुष्ट हो जाया करती हैं एवं अपने ससुराल में अपनी धाक जमाने के लिए यही चाहती रहती हैं कि पीहर वाले हर समय देते ही रहें। अतएव उनका भी आत्म-उद्बोधन होना आवश्यक

है कि ससुराल व कहीं भी वास्तविक धाक व प्रभाव लेन देन से नहीं बल्कि उसके संयमपूर्ण त्यागमय एवं सेवामय व्यक्तित्व से ही सम्भव है ।

(६) इसके अतिरिक्त जितने भी नेग-चार विवाह में होते हैं उनकी एक सूची बना कर प्रत्येक रीति की समीक्षा कर जनसाधारण एवं नवयुवकों को उनका अर्थ बताया जाय एवं जो अनावश्यक हों उसे क्यों त्यागना चाहिये इसका कारण स्पष्ट किया जाय एवं जिन रीतियों में सुधार की आवश्यकता हो उसे भी कारण सहित बताया जाय ।

दहेज की समस्या ने आज जो रूप ले लिया है उसकी पूर्ण समीक्षा इतने सीमित दायरे में शायद संभव नहीं । ऊपर कई विषयों का केवल प्रसंगवश संक्षेप में उल्लेख किया गया है जिनको पूर्ण विकसित न करने के कारण सम्भव है लोग समझ न पायें एवं ग़लतफ़हमी हो जाय । अतएव जिन बन्धुओं को इन विचारों में तारतम्य के अभाव का अनुभव हो उनसे अनुरोध है कि ग़लतफ़हमी करने के पहले वे मुझसे स्पष्टीकरण करने का कष्ट करें । हो सकता है मैं स्वयं विचार करने में गलती करता होऊं । उस हालत में अपनी गलती का स्पष्टीकरण होने से मुझे खुशी होगी । किन्तु इतना और कहना नितान्त आवश्यक है कि दहेज समस्या तो अपने समाज की अव्यवस्था का एक प्रतिफल मात्र है जबकि और भी कितनी ही कुरीतियों को सुधारना भी आवश्यक है जिनको साथ साथ सुधारे बिना अपने प्रयत्नों का प्रत्याशित फल मिलना संभव नहीं । और इन सब कुरीतियों को रचनात्मक ढंग से दूर

करने के लिए सामाजिक व्यवस्था को सुधारने की सबसे पहले आवश्यकता है जो कि आपस में सद्भाव, मेल-मिलाप, प्रेम, शिक्षा एवं बौद्धिक विकास पर निर्भर है। और चूंकि मनुष्य स्वभावतः भावुक है और उसके अच्छे-बुरे कार्य उसके सोचने की शैली पर निर्भर है, हमें सभी सामाजिक समस्याओं को मनोविज्ञान एवं दार्शनिक पहलू द्वारा ही सुलझाना होगा। जो कार्य्य मनुष्य की सोचने की शैली पर निर्भर है और उसे रोकने में बाहरी दबाव सफल नहीं होता वहाँ उसके भीतर की पुकार एवं अन्तर्प्रेरणा को ही जगाना होगा जिसकी वह अवज्ञा नहीं कर सकता।

प्रचलित रीति-रिवाजों पर मीमांसा

आज के समाज में बढ़ती हुयी असन्तुलन्ता एवं लोगों की विपदाओं का एक कारण यह भी है कि समाज के लोग मनुष्य से अधिक आजकल रीतिरिवाजों एवं नेगचारों को महत्व देने लग गये हैं। वास्तव में रीति रिवाज किसी भी काल में उस समय की परिस्थिति के अनुसार मनुष्य की सुविधा के लिए बनाये जाते हैं, एवं परिवर्त्तित परिस्थितियों में वे ही रीति रिवाज समय समय पर मनुष्य की सुविधा के लिये बदले भी जा सकते हैं। जब लोग किसी भी रीतिरिवाज को पकड़ कर बैठ जाते हैं तो वही रूढ़ी वाद की तरह समाज के लिये भार स्वरूप हो जाता है। इस तरह मनुष्य अपनी ही गलती के कारण अपने ही द्वारा निर्मित बोझ के नीचे पिसता और कराहता रहता है। हमें सुसंस्कृत व्यवहार निष्ठ होना चाहिये न की रीति-रिवाज निष्ठ जो लोगों के आपसी भाईचारे की वृद्धि में कभी कभी दीवार बन कर खड़े हो जाते हैं। अतएव अब जो विवाह आदि में प्रचलित नेगचार हैं उन पर इस दृष्टिकोण से विचार किया जाय।

(१) मुद्दा।—मुद्दे के समय जब लड़के की बहन वधू के घर पर मुद्द्दा लेने जाती है, तब प्रचलित रश्मों के अनुसार

कुछ चाँदी के प्याले लाया करती हैं, किन्तु इस प्याले की रीति में कुछ औचित्य नज़र नहीं आता। जब कोई अभ्यागत किसी के घर जाता है, तो लोक व्यवहारिकता के नाते उसकी जलपान वगैरह के द्वारा सम्मान एवं पर्याप्त अभ्यर्थना तथा अतिथि सत्कार कर दिया जाता है किन्तु इसके बावजूद न तो मेहमान यह कहता है कि मेरे साथ कुछ ले जाने को चाहिये और न वह यही कहता है कि मेरे घर में इतने प्राणी हैं, उनके लिए भी मेरी पोटली में कुछ बाँध दीजिये। जिस मेज़बान के घर मेहमान आता है वह भी यह प्रस्ताव कभी नहीं करता कि आपके घर के लोगों के लिए भी मेरे यहाँ से कुछ लेते जायँ। ठीक उसी प्रकार जब मुद्दे का नेग करने बहनें एवं घर की बुआ वगैरह जाती हैं तो उनका कर्त्तव्य लड़की को वधू के रूप में आशीर्वाद देने का है। और कन्या पक्ष वालों का कर्त्तव्य है कि आये हुए अतिथियों का स्वागत सम्मान भलीभांति कर दिया जाय। जो बहनें मुद्दा लेने जाती हैं, उन्हें घर पर अन्य लोगों के लिए कन्या पक्ष वालों से अन्य और कुछ लेना ठीक नहीं जान पड़ता। हो सकता है कभी किसी ने इस तरह के प्याले अपनी प्रसिद्धि के लिए दिये हों परन्तु यह ठीक नहीं कि उसका प्रचलन बना दिया जाय जिससे सर्वसाधारण में यह रोग की तरह फैल जाय। अस्तु आज के लोगों को उसकी औचित्यता पर ध्यान देकर सम्भव परिवर्त्तन कर लेना आवश्यक है।

(२) हराभरा—इस रीति में प्रचलित पद्धति के अनुसार कन्यापक्ष के लोग हराभरा एवं फल व रुपये प्रायः देते हैं। फल देने की युक्ति में लोगों का कहना है कि कन्या पक्ष

के लोग यह चाहते हैं कि इसके द्वारा वरपक्ष का परिवार सदैव हराभरा रहे एवं दूसरी युक्ति यह भी होती है कि वरपक्ष के लोग उसे अपने सम्बन्धियों में वितरित करवा कर खुशी और हर्ष मनाते हैं। यदि ऐसा ही हो तब तो वरपक्ष के लोग स्वयं ही अपने पैसों से खरीद कर स्वयं भी वितरित करवा कर खुशी मना सकते हैं। किन्तु फिर हराभरा के रुपये का आदान प्रदान तो किसी भी अवस्था में बोधगम्य प्रतीत नहीं होता और यह समाज के लिए अयुक्ति संगत एवं भार स्वरूप मात्र ही नहीं बल्कि रूढ़िवाद का स्पष्ट परिचायक है।

विचार करने पर यह तो प्रतीत होता है कि हराभरा अपने स्थान का कुछ महत्व तो रखता है, परन्तु लोग जैसा सोचते हैं उस रूप में नहीं शायद उसका यह महत्व है कि अपने भारतीय शिष्टाचार के अनुसार जब तक कन्या के माता पिता पूर्ण स्वीकृति नहीं दे देते व अधिकार नहीं देते तब तक वरपक्ष के सम्वन्धियों द्वारा यह घोषणा करना उचित नहीं माना जाता कि इस विशिष्ट कन्या से उनके इस लड़के का सम्बन्ध हो रहा है और उसी तात्पर्य से सम्बन्धित शायद यह रीति है, जिसमें कन्या पक्ष वाले कुछ फल मेवे के रूप में वरपक्ष वालों को सम्बन्ध की अपनी पूर्ण स्वीकृति सूचित करते हैं एवं उन्हीं फल मेवों को गांव में वितरण कर इस सम्बन्ध को घोषणा कर देने की स्वीकृति और अधिकार देते हैं। इस दृष्टि से अवश्य ही भारतीय संस्कृति का एक उच्च विचार पहलू नजर आता है। किन्तु फल मेवों के अतिरिक्त रुपयों का सम्मिश्रण अतिशयोक्ति ही है।

(३) झोला भरना (कुंवारी मिठाई)—इसके अनुसार विवाह के दो चार दिन पहले वर को बुला कर कन्या पक्ष वाले कई एक निजी जरूरतों की सामग्रियां दिया करते हैं। किन्तु इसमें भी वस्तुओं की बाहुल्यता की कुछ विकृतियां आ गई प्रतीत होती हैं। इसका तात्पर्य शायद यह था कि कन्या पक्ष के घर पर विवाह के समय दूर दूर जगह से जो कई बन्धु-बान्धव इकट्ठे होते हैं वे लोग वर को इसके पूर्व देखे हुए न होने के कारण विवाह के पहले वर को एक बार बुला कर सभी लोगों को दिखा देते हैं एवं शिष्टाचार के नाते और स्नेहवश वर के वापसी के समय उसे कुछ उपहार दे देते हैं। किन्तु इस समय पर के उपहार का परिमाण कुछ सामग्रियों तक ही सीमित था जो केवल झोला भर होता था किन्तु वही आज कल बहुत विस्तार खा गया है एवं यही अधिकता इसमें की विकृति है। इसके अलावा आज कल विवाह के पूर्व भी वर का कन्या पक्ष के घर में कई बार आना जाना हो जाने से यह महत्व भी कम सा ही हो गया है। एवं इस विकृति को हटाने के लिए एक बार इस नेग को ही उठा देना वांछनीय मालूम देता है।

(४) चाव और हाँस—प्रचलित प्रथा के अनुसार चाब में फिर से लड़के की बहनें एवं अन्य सम्बन्धी औरतें लड़की के घर जाती हैं एवं एक बार फिर चाँदी के प्याले वगैरह लाती हैं। इसमें केवल इसके कि आपस में आने जाने का कुछ आदान-प्रदान होकर आपसी परिचय और घनिष्ठता बढ़े और दूसरा कोई महत्व नहीं प्रतीत होता। किन्तु इसके साथ जो चाँदी के प्याले वगैरह का भी लेन देन होना शुरू हो गया है

वह विकृति और अतिशयोक्ति ही मालूम पड़ती है। अतएव इस विकृति को हटाने के लिए इस नेग को ही पूर्ण उठा दिया जाना चाहिए। कारण यदि इस नेग को रखते हुए इसमें कोई सुधार किया जाय तो यह विकृति पूर्ण सफलता से हट नहीं पावेगी। जहां तक हाँस का सवाल है वह इसलिए रखना कुछ उचित मालूम देता है कि यह कन्या पक्ष की औरतों को प्रथम अवसर मिलता है जब वे वर पक्ष लड़के के घर पर आकर वहां की औरतों से परिचित होती हैं। किन्तु इसमें औरतों की मिलनी का जो रूप है उसे अवश्य सीमित एवं सुसंस्कृत कर देना चाहिये।

(५) मुकलावा—इसमें प्रचलित रीति रिवाज के अनुसार वधू, विवाह के पश्चात् बहुत सी वस्तुए लाया करती हैं। आरम्भ में इसका महल शायद यह था कि जब लड़की नई वधू के रूप में एक नूतन गृह में आगमन करती हैं तो कुछ दिनों तक वह हर समय में काफी लज्जा व संकोच बोध करती है। उस समय वह अपनी जरूरतों की वस्तुओं को मुंह खोल कर बता नहीं सकती। अतएव कुछ दिनों तक के अपने जरूरत के पर्याप्त कपड़े एवं अन्य सामग्रियां अपने साथ ले आती थीं। यह प्रायः उस तरह का होता है जैसा कि एक यात्रि किसी यात्रा में जाते समय अपनी जरूरतों की पर्य्याप्त सामग्रियां अपने साथ ले जाता है। ठीक उसी प्रकार जब वधू अपने पीहर से नये ससुराल में जाती है तो अपने साथ एक यात्री के बतौर अपनी तुरन्त की जरूरत की वस्तुएं ले जाती हैं।

किन्तु आजकल इन सब वस्तुओं को मुकलावा के रूप में

जिस तरह दिखावा शुरू कर दिया है यह एक तरह का नेग का रूप धारण कर लिया है और सामाजिक दृष्टि से "देना पड़ता है इसलिए देते हैं" जैसी भावना आ गयी है। जबकि यह केवल लड़की के निजी जरूरत के उद्देष्य की ही होनी चाहिये थी, आज कल लड़की के होने वाले सास ससूर बल्कि इसके लिए ज्यादा चिन्तित हुए रहते हैं और लड़की के घर वाले भी मुकलावा में अच्छी अच्छी कीमती चीजें देने में इसलिए चिन्तित रहते हैं कि लड़की के सास ससूर एवं ससूराल के और कई लोग देखेंगे तो क्या कहेंगे– कहीं नाराज न हो जायं या मन छोटा न कर ले। अतएव, यह भी एक अत्यन्त सामाजिक कुरीति के रूप में आ खड़ी हुई है। इसका असर इतना ही नहीं। इसकी प्रतिक्रिया स्वयं लड़के लड़कियों पर भी काफी अवांछनीय रूप से होती है। यदि तो वधू के द्वारा लाया गया मुकलावा ससुराल वालों को पसन्द नहीं आया तो उसकी प्रतिक्रिया तिरस्कार के रूप में उस बेचारी वधू पर होती है जिससे उसके ससुराल वाली औरतों की उसके पीहर वालों के ऊपर बोलठोल भी सुनने पड़ जाते हैं—साथ-साथ वर (लड़का) भी पूर्ण खुश न होने से वह भी मन में खोये हुए पन का अनुभव करने लग जाता है। और यदि वधू अपने साथ अगर बहुत कीमती रूप में मुकलावा लाती है जिससे ससूराल वाले 'बहुत लायी, बहुत लायी' कहने लग जावें तो उसकी प्रतिक्रिया वधू पर कुछ अभिमान के रूप में हो जाती है जिसकी प्रतिक्रिया भी वर (लड़के) एवं ससुराल के अन्य लोग जैसे देवरानी, जेठानी वगैरह के हक में बहुधा अच्छी नहीं होती।

अतएव यह रिवाज 'मुकलावा' एक 'मुकलावा' रिवाज के रूप में उठ ही जाना श्रेयस्कर है। जैसा कि एक यात्री अपने साथ जो वस्तु ले जाता है किसी को दिखाने की जरूरत नहीं समझता उसी तरह एक लड़की वधू बन कर अपने ससूराल जाती है तो उसकी यात्रा के लिए दिये गये सामान का भी प्रदर्शन करने का कोई तात्पर्य नहीं वोध होता। इस प्रदर्शन के कारण ही 'मुकलावा' की यह रिवाज इतनी भार स्वरूप हो गयी है। यह प्रदर्शन यदि उठा दिया जाय तो इसमें स्वयं सन्तुलनता आ जायगी। फिर यह देना पड़ता है इसलिए दिया जाता है ऐसी जबरदस्ती की भावना नहीं रहेगी।

(६) जेंवाईयों के तिलक—परिवार की वृद्धि के साथ साथ जवाईयों की संख्या की भी काफी वृद्धि हो जाने से आज कल साधारण जन में प्रायः यह देखा जाता है कि लड़के के विवाह में मेल जिम्मनवार में या लड़की के विवाह में जंवाई न्योते के समय सभी को वुलाने एवं सभी के तिलक करने में काफी झंझट होने के कारण लोग अत्यन्त निकट के जो जेंवाई हैं उन्हीं को वुला कर अन्य जो चाचा, ताऊ, मौसा वगैरह के हैं उन्हें बाद ही देने को विवश हो जाते हैं। किन्तु यह समाज की अभिवृद्धि के लिए अत्यन्त अहितकर साबित हो जाता है। साथ-साथ यह भी सत्य है कि यदि सभी को जंवाई न्योतने के हिसाब से बुलाया जावे तो वह भी काफी दुस्तर कार्य हो जाता है। अतएव हमें अब यह विचार करना चाहिए कि इस तरह के तिलक करने का क्या महत्व है एवं क्या इस तिलक के लिए हमें अपने समाज की अभिवृद्धि और अपनत्व वृद्धि और भाईचारे

बढ़ाने के मार्ग में बाधा खड़ी करनी उचित है क्या ? परिवार की दिनोंदिन वृद्धि होती रहे, इसकी तो बल्कि हम अनन्त कामना करते रहते हैं एवं जितने जंवाई होते हैं उतने ही हमारे सखाओं की लाभ वृद्ध होती है यह हमारे अत्यन्त खुशी का का कारण होना चाहिए एवं आपस में जितना ज्यादा से ज्यादा हो सके उतना आपस में अपनत्व बढ़ाना चाहिये। इस तरह के अपनत्व बढ़ाने के उच्च उद्देश्य में यदि केवल तिलक की रीति हमारे मार्ग में बाधा उपस्थित कर देती है तो हमें अवश्य ही इससे मुक्ति पानी चाहिये। इससे न केवल बुलाने वाले मुक्ति पा जायंगे बल्कि जंवाईयों को भी भारी मुक्ति मिलेगी। कारण ऐसे अवसरों पर प्रायः देखा जाता है कि जेंवाईगण तिलक करवाते समय बड़े पसोपेस में पड़ जाते हैं। क्यों न जैसे हम सभी अन्य अत्यन्त निकतम एवं और सभी बन्धुओं को बुलाते हैं उसी तरह सभी निकटस्थ और दूर के भी सभी जेंवाईगणों को भी न्योता देकर सभी लोगों को आपस में एक दूसरे में बिना किसी पार्थक्य के एक दूसरे से मिलने का एक रूप से मौका देकर आपसी अपनत्व बढ़ाने का अवसर दें।

तिलक का अभिप्राय तो आशीर्वाद और शुभकामनाओं से है। और यह जेंवाई विशेष तक ही सीमित नहीं है। यों भी जब कोई एक देश से दूसरे जगह जाता है तो घर के लोग उसके प्रस्थान के समय पर उसके तिलक कर के यात्रा की सब कठिनाइयां दूर रहें एवं यात्रा बिना विघ्न के सफल हो ऐसा आशीर्वाद देते हैं और शुभ कामना करते हैं। अतएव इसी तरह के विशेष ऐसे अवसर होते हैं जहां जेंवाई तिलक का

शायद यह महत्व था कि जैसे जब जंवाई दूसरे गांवों से समय समय पर ससूराल आते हैं और फिर वापस जाने के समय उनके कुछ रुपयों के साथ तिलक किया जाना आशीर्वाद एवं यात्रा में आकस्मिक जरूरत के समय वह धन काम आयगा के रूप में महत्व प्रतीत होता है। बल्कि इसमें हमारे समाज शास्त्र के आचार्यों की एक गहरी विचारधारा की एक झांकी भी दिखाई देती मालूम होती है। शायद जेंवाई के पास किसी समय यात्रा के लिए कुछ धन की कमी हो और वह लज्जावश उसका प्रकाश न करे तो यात्रा में तकलीफ हो। अतएव, तिलक के समय कुछ रुपये देकर उसकी यह समस्या स्वयं ही दूर कर देने में एक दूरदर्शिता का व्यवहार परिलक्षित होता है। किसी यात्रा के समय यों भी चाहे कोई भी हो, हमेशा ही बड़े बुजूर्ग अपनी पुरानी संस्कृति के अनुसार टिका करके यात्रा की विपत्तियां दूर रहें ऐसा आशीर्वाद दिया करते हैं।

इसके अलावा कुछ और भी ऐसे अवसर हैं जिस समय पर जेंवाई तिलक के हिसाब से कुछ महत्व है जैसे—सगाई के अवसर पर आशीर्वाद देते समय कुछ रुपये या गिन्नी के साथ तिलक किया जाता है उसका महत्व आशीर्वाद एवं उसके नूतन जीवन पथ में एक सहारे के प्रतीक रूप प्रतीत होता है। उसी तरह फेरों के बाद पहरानी के समय विदा करते समय जो कई स्वजन बन्धुओं द्वारा तिलक किया जाता है वह भी उनमें समष्टिभाव का द्योतक एवं वर के नूतन जीवन यात्रा में आशीर्वाद एवं शुभकामनाओं के प्रतीक रूप में एक उच्च महत्व रखता हो।

किन्तु इसके अलावा जो विवाह के अवसर पर मेल की जिम्मनवार के बाद या पहरानी के समय जेंवाईयों के तिलक करने का रिवाज है वह अतिशयोक्ति ही मालूम देता है। जब कि हमारा उद्देश्य ज्यादा से ज्यादा सामाजिक विस्तार का होना चाहिए और भाईचारा बढ़ाने का प्रयत्न होना चाहिये उसके विपरीत यदि यह तिलक की रीति भाईचारे के बीच दिवाल जैसी खड़ी हो जावें तो इस रीति का क्या उपयोग? हमें ऐसी शृंखला से तुरन्त ही बिना बिलम्ब के मुक्त हो जाना चाहिये एवं जेंवाईयों व और निजी स्वजन बन्धुओं के बीच कोई पार्थक्य न कर सभी को अपने मांगलिक अवसरों पर एक तरह से एक साथ मिलने का अवसर दिया जाना चाहिये।

(७) मेल-जिम्मनवार—यह लड़के के विवाह में लड़के वालों द्वारा विवाह के ४-५ दिनों पहले सभी बन्धु बान्धवों को भोज का आयोजन किया जाता है। इसके विषय में जन-साधारण को कुछ शंका है कि यह विवाह के पहले क्यों, बाद में होना चाहिए एवं इसी की प्रतिक्रिया स्वरूप लोग आजकल मेल के जगह पर विवाह के पश्चात प्रीति भोज करवाते हैं। किन्तु विवाह के पहले ही मेल करने का एक गूढ़ महत्व बोध होता है। वृहत् समाज में यदा कदा लोगों में आपसी मतभेद व समय समय पर कुछ मनो मालिन्य हो जाना अस्वाभाविक नहीं हैं। किन्तु विवाह के समय यह मेल एक ऐसा अवसर प्रदान कर देता है कि उस समय के पहले जितने लोगों का मनो मालिन्य रहा हो वे सब फिर आपसी मतभेद भूल कर एक जगह इकट्ठे हो जाते हैं और उस विवाह को अपना ही

कर्त्तव्य समझ कर सभी अपना अपना सहारा देने में फिर से एकबद्ध होकर जुट पड़ते हैं और इसके पश्चात् विवाह के सभी मांगलिक कार्यों में शामिल होने में उन्हें किसी भी प्रकार की हिचकिचाहट नहीं होती। इस तरह मतभेद हुए लोगों को जब सभी से मिल जाने का एक अवसर मिल जाता है लड़के के परिवार को उनके सामीप्य का फिर से सहयोग मिल जाता है जो कि अन्य रूप से शायद बाधक हो जा सकता था। इसी कारण शायद ऐसी जिम्मनवार का नाम भी 'मेल' रक्खा गया है। अतएव विवाह के पहले ऐसी मेल का एक अत्यन्त बड़ा महत्व है जो उद्देश्य कि विवाह के पश्चात् प्रीति भोज में पूर्ण रूपेण सफल नहीं हो पाता। कलकत्ते जैसे शहरों में किन्तु इसका कुछ प्रत्यावर्तन करना आवश्यक सा हो गया है। कलकत्ते जैसे वृहत् शहरों में जब कि एक ही मनुष्य को एक ही दिन में दस जगह जाना होता है तो वह शायद इस तरह के मेल में जावे सो सम्भव नहीं। अतएव, जो उद्देश्य मेल में इंगित है उसका आजकल वधु के घर पर शाम को ४-६ वा ५ से ७ इस तरह दो घण्टा का समय रख कर कुछ हद तक पूर्ण करने की चेष्टा की जाती है। किन्तु गाँवों में जहां शहर के जीवन को उतनी विषमताऐं नहीं हैं वहां तो मेल ही किया जाना उचित प्रतीत होता है।

अभी भी शहरों में जहां मेल ही होती है वहां किन्तु एक समस्या और है जिसमें सुधार होना अत्यन्त आवश्यक है। वह यह कि लड़के के विवाह में सभी बन्धु सगे सम्बन्धी वगैरह की औरतों को तो लड़के के घर की औरतें दो बार तीन बार

जा-जाकर निमन्त्रण दें एवं मर्दों को मर्द लोग जा-जाकर कहें एवं औरतों को लाने के लिए भी गाड़ी भेजनी पड़े फिर पहुँचाने के लिए भी गाड़ी चाहिये, ये सब सचमुच जन-साधारण के समझ की कमी का द्योतक है जब कि विवाह में पहले से ही और कार्यों का बोझ होता है। लड़के के विवाह में साधारणतया लोगों की ऐसी एक भावना हो गयी है कि लड़के के विवाह में तो उनकी खातिर ही खातिर होनी चाहिये और खुशामद करवाये बिना जाना नहीं चाहिये यह एक बड़ी भारी भ्रान्ति है अतएव ऐसा विचार स्वस्थप्रद नहीं। चाहे लड़के का विवाह हो अथवा लड़की का सभी बन्धु-बान्धवों को तो यही समझना चाहिए कि दोनों प्रकार के अवसर उनके लिए एक रूप हैं और दोनों ही उनका अपना कार्य्य है। लड़की के विवाह में तो सहानुभूति की भावना और लड़के के विवाह में अपनी खुशामद करवाने की युक्ति संगत प्रतीत नहीं होती। देहातों में जब कि सभी के घर पास पास होते हैं और सीमित संख्या में, तो पत्र द्वारा निमन्त्रण देने की जरूरत नहीं रहती एवं उस क्षेत्र में लोग स्वयं जा-जाकर दो तीन बार निमन्त्रण दे आने में समर्थ होते हैं किन्तु शहरों में जहां एक दूसरे का घर दूर दूर हो एवं अनगिनत लोगों को निमन्त्रण देना हो तो सभी के घर जा-जाकर स्वयं निमन्त्रण देने में कठिनाई ही नहीं बल्कि एक तरह से अति दुश्तर होने के कारण पत्र द्वारा निमन्त्रण देने की रिवाज शुरू करनी पड़ी। एवं सभी लोगों को पत्र द्वारा निमन्त्रण ही यथेष्ट मान लेना चाहिए। एवं जिनके घरों में गाड़ियां हों वे स्वयं ही आने

की चेष्टा करें एवं जो पास में ही रहते हों एवं हमेशा जैसे स्वयं ही आ जाया करते हों वैसे आ जावें तो काफी सहायक हो जाय एवं लड़के वालों को फिर दूसरे अन्य कार्य्यों की तरफ ध्यान देने का अवसर मिल जा सके।

(८) जूंहारी— फेरों के बाद पहरानी के समय बिदाई के वक्त जो बन्धु-बान्धवों द्वारा विवाह के अवसर पर २ रुपये ४ रुपये करके जूंहारी के रूप में जमा कराने की रीति है उसे इधर में कई लोग उठा देने पर जोर देते हैं; किन्तु इसको उठा देना उचित मालूम नहीं होता। इसे उठा देने से तो ऐसा होगा कि जो उठाने की चीज है उसे तो उठाते नहीं बल्कि जो रीति श्रेयस्कर है उसे उठा रहे हैं। कारण जूंहारी में यह जो एक महत्वपूर्ण भावना है कि सभी बन्धु-बान्धव एवं उस मुहल्ले के लोग किसी भी विवाह को अपने घर का विवाह समझते हैं और उसी भावना से प्रेरित हो वे सभी अपने सामर्थ्य के अनुसार उसमें अपनी भी सहायता देने को अग्रसर हो जाते हैं। पूर्व जमाने में इसी समष्टि के विस्तार भावना के ही कारण कोई भी विवाह गांव की समूची एकबद्ध सहायता से बड़ी आसानी से सम्पन्न हो जाते थे एवं एक गांव की लड़की जब विवाह के पश्चात् दूसरे गांव में जाती थी तो लड़की के गांव वाले प्रत्येक यही समझते थे कि वह लड़की हमारी है एवं लड़की के पिता की इज्जत को पूरे गांव की इज्जत समझते थे। आज के इस युग में आर्थिक परिस्थिति के परिवर्तन से उसका महत्व प्रत्यक्ष रूप में नजर न आता हो किन्तु यह रीति यदि बनी रही तो यही रीति फिर कालान्तर में वैसी ही समष्टि

भावना को उपयोगी बना देने में काफी सफल हो सकेगी। अतएव २ रुपये ४ रुपये पूर्ण खर्चे के अनुपात में कितने ही नगण्य हों किन्तु इसके पीछे जो समष्टि सहयोग और अपनत्व की भावना है उसका मूल्य कभी भी रुपयों के तराजू में नहीं आंका जा सकता। अतएव इस रीति को अवश्य ही बनाये रखना वांछनीय है।

यों तो विवाह के ऊपर और भी बहुत सी रीति-रिवाज हैं किन्तु जो ज्यादातर आलोचना में आया करती हैं उन्हीं के ऊपर अभी अपने स्वतन्त्र रूप से विचार किया गया है। यों किसी भी रीति-रिवाज के औचित्यता एवं उपयोगिता हम निम्न मापदण्ड से माप सकते हैं :—

(१) जो भी रीति-रिवाज समाज में भाईचारे के विस्तार और पनपने के मार्ग में बाधा सी हो वह त्याज्य हैं;

(२) रीति-रिवाज मनुष्य के समाज की सुविधा के लिए है न कि मनुष्य रीति-रिवाज के लिए है एवं मनुष्य की सुविधा के लिए रीति-रिवाज को जिद्द में रूढ़िवादी की तरह पकड़े रहना उचित नहीं।

(३) जिस रीति-रिवाज में समष्टि की भावना है वह कितनी भी न्यून क्यों न दीखती हो उसे व्यक्तिगत अनिच्छा होने पर भी समष्टि की भावना की खातिर सुरक्षित रखना उचित है।

(४) जो लेन-देन स्वेच्छा से हृदय की पवित्र एवं सरल भावना से प्रेरित हुई हो उसमें कोई आपत्तिजनक बात नहीं किन्तु जो लेन देन, लेन देन के खातिर होता है, वह त्याज्य हैं।

———

अपना समाज बिखर रहा है—कारण ?

किसी भी मनुष्य को उसके मनमानी उच्छृंखलता व तानाशाही से रोकने के लिए किसी भी प्रकार की एक भय की आवश्यकता होती है। साधारण तौर पर यह भय तीन प्रकार का होता है :—

(१) राज्य भय ;
(२) समाज भय ;
(३) ईश्वर भय ;

(१) आजकल राज्य भय कितना व किस रूप में रह गया है वह सर्वविदित है। वर्तमान राज्य-संचालन पद्धति अपराधियों को अपराध करने से रोकने में एवं कमजोर लोगों की संरक्षा करने में सर्वथा असमर्थ प्रतीत होती है। वर्त्तमान प्रचलित कानून एवं न्याय पद्धति के अनुसार कोई भी अपराधी कानून के दाँव-पेंचों द्वारा अपना पूर्ण बचाव करने को समर्थ होकर कानून के मूलगत उद्देश्यों को ही पराजित कर देता है। बल्कि इन्हीं कानून और न्याय पद्धति के आड़ में ही बड़े बड़े अपराध और अपराधी पनपते रहते हैं। इस तरह राज्य भय तो केवल एक मखौल जैसा ही रह गया है। इसके अतिरिक्त

राज्य भय कुछ सीमाबद्ध भी है जिससे मनुष्य के हर निजी क्षेत्र में वह हस्तक्षेप नहीं कर सकता।

(२) समाज भय भी जबसे पंचायत पद्धति का लोप हुआ है बिल्कुल न्यून हो गया है।

पहले हमारे सम्पूर्ण समाज के ढाँचें को समाज की पंचायत एक सूत्र में बाँधे हुए थी। मनुष्य स्वभाव से ही सामाजिक होने के कारण एवं पंचायत के दण्ड विधान भी सामाजिक ही होने के कारण कोई भी मनुष्य सहज ही समाज की अवज्ञा नहीं कर पाता था। जिस समय पंचायत प्रणाली का वास्तविक रूप में बोलबाला था, उस समय आज जैसी अनैतिकता न थी। कालान्तर में वर्षों पर्य्यन्त विदेशियों की सत्ता एवं अपनी भारतीय संस्कृति में विदेशियों के राजनीतिक दाँव-पेंच के हस्तक्षेप श्रौर प्रहारों के कारण धीरे धीरे वास्तविक पंचायत प्रणाली तो विलुप्त हो गयी एवं जो कुछ भी थोड़ी बहुत बची वह कुछ तो अनुपयुक्त पंचों के कारण एवं रही सही भी वर्तमान विदेशी न्याय (कोर्ट) पद्धति के कारण विलुप्त हो गयी। पंचायत प्रणाली विलुप्त होते ही जैसे सेनापति के मारे जाने पर रणक्षेत्र में सेना इधर उधर बिखर जाती हैं या किसी भी माला के अन्दर का सूत टूट जाने पर माला के मोती बिखर पड़ते हैं, उसी प्रकार पंचायत जो अपने अन्तर्गत समाज या उस क्षेत्र की जनता को एक सूत्र में बांधे हुए थी उसके विलुप्त होते ही वह समाज भी धीरे धीरे बिखरने लगा। कारण पहले जब कि समाज में प्रतिष्ठा से रहने के लिए, समाज के समष्टि दृष्टिकोण के अनुसार व्यवहार करना पड़ता था,

आजकल जिसके जो मन में आता है, करना शुरू कर देता है। जिसके फलस्वरूप जो काफी धनाढ्य और पैसे वाले हैं वे तो अपने पैसों के प्रभाव से समाज के सभी लोगों को अपने नीचे रखने में समर्थ हो जाते हैं किन्तु जो मध्यम श्रेणी के हैं वे अपने को बीच में लटकते हुए एवं बिसराये हुए से अनुभव करते पाते हैं। इस तरह समाज के अन्दर ही दो तरह की श्रेणियां पृथक् पृथक् सी लगने लगीं। धनाढ्य श्रेणी के लोग अपने से नीचे की श्रेणी को हेय दृष्टि से देखने लगे एवं उनकी उपेक्षा करने में कुण्ठित नहीं होते एवं मध्यम श्रेणी के लोग कुछ गम से, कुछ घृणा से उन्हें दुराव की दृष्टि से देखने लगे। इस तरह जबकि समाज के सभी लोगों का पारस्परिक सहयोग एक बड़ी तीव्र शक्ति सिद्ध हो सकता था, वही पारस्परिक सहयोग न होने के कारण अपना समाज शक्तिहीन सा नजर आने लगा और सब प्रकार की योग्यता रहते हुए भी अन्य सभी समाज के लोगों के अट्टहास का शिकार हो रहा है। अपने समाज का चाहे वह धनाढ्य हो वा मध्यम श्रेणी का उसमें इतना जाति सम्मान नहीं रहा कि वह पूर्ण स्वाभिमान से अपनी जाति परिचय दे सके। जबकि जितना मैंने अध्ययन किया है विश्व की किसी भी अन्य जाति से यह जाति किसी भी विषय में औरों से कम कुशाग्र बुद्धि और हृदय की उदारता नहीं रखती। यह केवल कहने के लिए ही नहीं बल्कि अपने अध्ययन काल में उन स्कूलों में पढ़ने के कारण जहां कि विश्व की सभी जातियों के लड़के पढ़ा करते थे एवं व्यापार क्षेत्र में भी विश्व की सभी जातियों से व्यवहार

पड़ने पर निकट अनुभव के आधार पर मैं पूर्ण विश्वास से कह सकता हूँ कि अपनी जाति किसी भी क्षेत्र में किसी से भी कम कुशाग्र वुद्धि नहीं रखती, जिस कारण हमें किसी भी तरह अपने को हीन समझना पड़े। यह बात अलग है कि कई क्षेत्रों में हमने प्रवेश ही नहीं किया या उस ओर हम ज्यादा गहराई तक नहीं गये जैसे विज्ञान, राजनीतिक आदि; किन्तु जिधर गये हैं उधर ही हमने फतह पाई है इसमें जरा भी संदेह नहीं। तव फिर हमें इतना हीन क्यों समझा जाता है, और हम स्वयं भी अपने को इतना लज्जित क्यों अनुभव करते हैं। इसका एक प्रधान कारण यह है कि हम अपने ही समाज वालों से प्रेम नहीं रखते। जब हम ऊपर उठना चाहते हैं तो अपने ही समाज के लोगों की निन्दा कर ऊपर उठना सरल समझते हैं एवं हम में यह भावना नहीं रही कि हमारे ही समाज का कोई व्यक्ति अगर तकलीफ पा रहा हो तो उसे कुछ सहायता करके सम्मान के स्तर पर ले आवें बल्कि आजकल लोगों की यह आम प्रवृत्ति देखी जाती है कि दूसरों को ज्यादा से ज्यादा नीचा दिखा कर वे उतने ही अनुपात में उसके सम्मुख अपने को बड़ा दिखा कर सन्तोष अनुभव करते हैं। जब कोई किसी ऊँचे ओहदे वाले या धनाढ्य के पास कुछ सिफारिश के तौर पर या अन्य किसी सहायता के लिए कोई उनसे नीचे की श्रेणी का जाता है तो वे वह सहायता जो कि आसानी से कर भी सकते हों तब भी वे इसलिए नहीं सहायता करते कि यह उसकी जाति का ही है एवं कहीं वह उस से ऊपर न उठ जावें। ऐसी ही बात सार्वजनिक क्षेत्र में

भी बहुधा नजर आती है कि जब कोई मनुष्य या युवक विलक्षण सा प्रतीत होता है तो उसे कुछ उत्साह और बढ़ावा देने के बजाय या तो दबाने की चेष्टा की जाती है या उसकी पूर्ण अवज्ञा की जाती है या उसे भी कुछ अपना नाम कमाने की धुन चढ़ा कर आप सरीखा सा ही कर लेते हैं। इस तरह अपने समाज में वे अन्य लोगों से ज्यादा मूर्ख रहें एवं उसमें हम कुछ लोग प्रगतिवाद से नजर आवें, इस तरह अन्धों में काने राजा की सी प्रवृत्ति चल रही है। अपने समाज में आपसी सहयोग की स्थिति की मिसाल कुछ ऐसी ही है जैसे कुत्ता जाति में सब गुण होते हुए भी लोग उसे हेय इसलिए मानते हैं कि एक कुत्ता दूसरे कुत्ते को देखते ही भोंकने लगता है एवं उसे दूर कर देना चाहता है और इस तरह अपनी ही जाति से वैर-भाव रखता है; उसी तरह कौवे भी अपनी जाति में अन्य कौवों को सहन नहीं कर पाते ; इसी कारण जिस तरह कुत्तों और कौवों की जाति को हेय समझा जाता है प्रायः ठीक उसी प्रकार अपनी जाति में परस्पर के मेल के अभाव में अपनी जाति को भी हेय समझा जाने लगा, कारण कि हम स्वयं ही अपने समाज से प्यार नहीं करते और हम स्वयं ही अपनी जाति का सम्मान नहीं करते। समाज के जो कर्णधार माने जाते हैं वे भी समाज के उत्थान की उतनी फिक्र नहीं करते जितनी उनकी अपनी नाम की प्रसिद्धि में अन्यथा उनका प्रयास अवश्य ही सफल हुआ होता है।

दूसरा प्रधान कारण यह है कि जैसे अपने परिवार में यदि कोई त्रुटि या दोष हो तो उसे बिना बाहर में प्रकाश लाये स्वयं ही उसे सुधारने की चेष्टा करते हैं एवं जब ऐसी

कोई शर्म की घटना हो जाती है तो उसे हम औरों से छिपाते हुए चुपचाप उस बात को ढाँक कर उसका सुधार करने का प्रयत्न करते हैं, उसी प्रकार वृहत् समाज में भी जब कोई दोष हो तो उसे अनावश्यक रूप से बहुत बड़े आकार का दर्शा कर आम जनता में प्रचार करते हुए ठीक करने का तरीका केवल अवांछनीय ही नहीं बल्कि हानिकर भी है एवं स्वयं अपने को ही जलील करना भी है। और यही भद्दा तरीका वर्तमान समय में हो रहा है। यह तो बल्कि पर्दाफास जैसा होता है जिससे निर्लज्जता कम होने के बजाय ज्यादा बढ़ती ही है और इसके फलस्वरूप हमें वही नजर भी आ रहा है। जो दोष हमारे समाज में है क्या वे दोष और अन्य समाजों में नहीं है एवं क्या उनमें इतना हो-हल्ले बिना सुधार नहीं हुआ या नहीं हो रहा है? फिर हमारे समाज के लिए ही इतने पिकेटिंग सभा, सम्मेलन, जुलूस आदि की क्या अनिवार्यता है? वास्तव में इन सब में मूलगत भावना यथार्थ उद्देश्य के बजाय बल्कि विशेष अपने नाम की लोक प्रसिद्धि पाने के ध्यान के कारण ही आशानुरूप सफलता नहीं मिलती; किन्तु ऐसी लोक प्रसिद्धि में जो विश्वास करते हैं वे भी कुछ भ्रम में हैं। जनसाधारण यों भले ही किसी भी समय क्षणिक जोश में जिधर कहीं भी भेड़ जैसे बहने वाला स्वभाव के हों; किन्तु साथ ही साथ उनकी दृष्टि प्रचुर तीक्ष्ण होती है जिसे ज्यादा दिनों तक धोखा नहीं दिया जा सकता। अतएव सच्ची टिकाऊ लोक प्रसिद्धि केवल जुलूस व पिकेटिंग से नहीं होती बल्कि अपने स्वयं के आचरण एवं नैतिक उच्च स्तर से होती है।

अतएव इस तरह अपने समाज के दोषों को अनावश्यक रूप से बढ़ा चढ़ा कर दिखाने से अन्य जातियों के समक्ष अपने समाज की हँसी उड़ानी है सो तो है ही साथ-साथ अपने समाज के अन्दर ही इसकी विपरीत प्रतिक्रिया और भी हानिकर होती है। जो लोग सच्ची प्रेरणा से भी इस ओर अग्रसर होते हैं वे भी धीरे धीरे इस तरह नाम कमाने की रेस में सम्मिलित होने से अपनी सच्ची प्रेरणा को तो खो ही बैठे हैं, इसके अतिरिक्त अवसरवादी होते हुए अपने निजी व्यक्तित्व को भी गंवा बैठते हैं। इस तरह इसका असर एक पैर आगे बढ़ना और दो पैर पीछे हटना जैसी प्रगति होती है। प्रथम में उचित शिक्षा, विवेक शक्ति वगैरह जगाने के बजाय सभा, जुलूस एवं जोशीले भाषणों द्वारा पर्दा प्रथा उठाने का नतीजा एवं जो जो औरतें अपने परिवार की धीरे धीरे राजी खुशी से सम्मति लेने की बजाय जबरदस्ती पर्दा उठा कर बाहर निकलने लगीं उन्हें उच्च आदर्श नारी कह कर बढ़ावा देने के नतीजे में अपने समाज में जितनी निर्लज्जता बढ़ रही है उतनी शायद ही किसी अन्य भारतीय जाति में पाई जाती हो। खाली मटकी ज्यादा छलके जैसे जो लड़कियां व औरतें केवल पर्दा उठा देने मात्र से और सभा-सोसाइटियों में या होटलों व थियेटरों में जाना शुरू कर देने मात्र से अपने को खूब प्रगतिवादी समझने लगीं, उनका ऐसा खोखला प्रगतिवाद का दृश्य (उनके अपने पल्लों को पूर्ण छुट्टी देकर एवं अधकटे ब्लाउज के पहनावे का) होटलों, सिनेमाओं और बाजारों में आये दिनों देखने को प्रचुर मिलता है। उससे सचमुच ही आंखें बन्द कर ईश्वर

पर ही भरोसे की आशा करनी पड़ती है। फिर घर के खाने को छोड़ कर होटलों में डीनर और लंच लेने शुरू करना तो एक और प्रगतिवाद की अलग स्टाइल शुरू हुई है। इसके अतिरिक्त लड़कियां अलग से अपने को प्रगतिवादी कहलाने की घर घर में विद्रोह करने लगीं कि हम उस ससुराल में इसलिए नहीं जायगी कि उसमें पर्दा है और कई दिनों तक खाना नहीं खाना या पीहर में आकर ससुराल नहीं जाना या अपने पति को जलील करना एवं उसे कहना कि तुम घर छोड़ कर अलग घर बसा लो, आदि, तो उधर नवयुवकगण भी अपनी स्त्रियों को अपने दोस्तों के बीच खाना खाने, उनके साथ ताश खेलने, सिनेमा और होटलों में जाने को विवश करने की धुन में सवार होने लगे हैं। इतना ही नहीं बल्कि उनको समय समय पर सिगरेटों की कश लगवा कर भी बड़े प्रगतिवादी बहादुर होने में नहीं चुकते। कोई भी कार्य्य जल्दबाजी में और अनावश्यक जोश और जोर देकर करवाया जाता है उसकी कुछ अनुचित प्रतिक्रिया होनी स्वाभाविक ही है और वही हो रहा है। इसके बजाय इस तरह के सामाजिक कार्य भले ही देरी से हो, एक वर्ष के बजाय ५ वर्ष लगें; किन्तु धीरे धीरे परस्पर के आग्रह से एवं विवेक जागृति से ही होने वांछनीय हैं जिससे एक सुधार करते करते अन्य विकृतियां उससे भी ज्यादा वीभत्स रूप लिए न हो जावें। होटलों में न खाना, मांस-मदिरा का सेवन न करना, चर्बी मिला हुआ घी न खाना, खाद्य-पदार्थों में कोई अन्य विजातीय वस्तु न मिलाना आदि मान्यताएँ समाज बहिष्कार या प्रायश्चित

आदि पंचायत के दण्ड विधान द्वारा समाज की रचना को अण्क्षुण बनाये रखने में अद्वितीय काम करती थी; किन्तु इन्हें रूढ़िवाद मान पंचायत पद्धति का उन्मूलन करने के पश्चात् यही प्रकाण्ड समाज-भवन दिन प्रतिदिन ढहता हुआ नजर आ रहा है।

पंचायत की पद्धति को ध्वस्त करने में सबसे बड़ा हाथ वर्तमान कानूनी ढंग और न्याय पद्धति का है। पंचों का फैसला अमान्य होने पर उनसे बचने का सरल उपाय उन्हें इन कोर्टों की छाहों में नजर आने लगा। धीरे धीरे कोर्ट के पीछे सरकार की अत्यन्त बड़ी शक्ति रहने से पंचायत की शक्ति ढंपती गयी। कोर्ट के लम्वे लम्बे एवं जटिल तरीके अपराधियों के लिए अच्छे प्रोत्साहन साबित होने लगे। कोर्ट की शक्ति के आड़ में जो लोग ज्यादा सुविधाजनक स्थिति में हैं उन्हें अन्य लोगों के कमजोर स्थिति का अनुचित लाभ उठाने का अवसर और लोभ मिलने लगा; एवं किसी भी मनुष्य का व्यवहार सबसे ज्यादा एक साथ रहने वाले उसी के समाज के लोगों से ही होने के कारण कोर्ट की छाहों में लोगों के आपसी मुकद्दमें ज्यादातर एक ही समाज के पास पास में ही रहने वाले लोगों के बीच में होने से समाज में तीव्र गति से विघटन होना शुरू हो गया। एवं धीरे धीरे लोगों में नैतिक पतन और आपसी झगड़े जोरों से शुरू होते होते अपने समूचे देश की एकता बड़े जोरों से नष्ट होनी शुरू हो गयी। उस पर लोगों के आपसी झगड़ों में अपना मर्माहत अभिमान आग में घी जैसा काम करने लगा। सौ-सौ वर्षों के पुराने येह आलीशान

अट्टालिकाओं जैसे घरों में कुछ दानों के लिए इसलिए लाले पड़ने लग गये कि वे लोग आपस के अभिमान की होड़ में सभी कुछ कोर्ट और वकीलों पर स्वाहा कर चुके और जहां न्याय के नाम पर पाने गये वड़प्पन तो जो थे सो भी नहीं रह पाये। इस तरह बृटिश साम्राज्य की नींव ज्यादा से ज्यादा मजबूत करने में जब यही कोर्ट और कानून एवं न्याय पद्धति ने सहायता की है; भारत देश की पराधीनता, नैतिक पतन और मनोमालिन्य संकीर्णता का सबसे बड़ा कारण भी यही रहा है; किन्तु अत्यन्त क्षोभ और दुःख तो इस बात का है कि स्वाधीनता पा जाने के उपरान्त भी बृटिश लोगों की इस वशियत से हम अपने को मुक्त नहीं कर पाये। और जब तक हम इस वर्तमान कानून और कोर्ट के न्याय पद्धति को पूर्ण रूप से वहिष्कार नहीं करते हैं तबतक लोगों के नैतिक स्तर, आपसी सम्बन्ध और देश की एकता में सुधार होना संभव नहीं। अक्सर लोग यह भ्रम कर बैठते हैं कि न्याय जैसा महत्व का कार्य एवं गांवों की शासन पद्धति को अनपढ़ गांव के पंच लोग कैसे सम्भालेंगे; किन्तु वे लोग यह भूल जाते हैं कि न्याय करने के लिए पोथी की विद्या नहीं बल्कि मन की समझ की जरूरत होती है एवं किसी भी घटना का तत्काल घटना स्थल के समीप ही विचार कर देने पर समस्याएँ आजकल की तरह झूठे प्रमाण और झूठी साखियों के कारण पेचीदा और जटिल भी नहीं हो पाती। इसके अतिरिक्त भविष्य के पंचों को भी शिक्षा का मौका दिया जाय तो वह कमी भी पूर्ण हो जायेगी। किन्तु पंच के नियुक्ति के लिए पंचों का साक्षर शिक्षित होना अनिवार्य नहीं है। इसके लिए वास्तव

में अन्दर की समझ, ईमानदारी, निष्पक्षता, निर्भयता एवं स्वतन्त्र और विकसित व्यक्तित्व ही सच्ची कसौटी है।

ऐसी विकट परिस्थिति में जब कभी सरकार इस ओर अग्रसर न हो तो यह जन-साधारण का उसी तरह स्वयं सिद्ध कर्तव्य हो जाता है, जिस तरह कि वृटिश सत्ता से मुक्ति पाने के लिए सभी साधारण जनता ही आगे बढ़ी थी ; उसी तरह वे लोग ही फिर से पंचायत की पद्धति को मान्यता देकर और उसमें यह विधान कर कि समाज का जो भी कोई व्यक्ति न्याय के लिए कोर्ट में जायगा वह समाज से बहिष्कृत माना जायगा, कोर्ट की सार्थकता ही हटा दें। जब सचमुच ही लोग इस तरह ऐसे लोगों का बहिष्कार करने लग जायेंगे तो यह केवल निश्चित ही नहीं अपितु ध्रुव निश्चित है कि चाहे कितना भी पैसा वाला क्यों न हो एवं कितने ही बड़े ओहदे वाला क्यों न हो उसे मुंह की खाकर फिर से समाज में आना होगा। अन्यथा उसका समाज के अतिरिक्त और कहीं अस्तित्व ही नहीं रहेगा। हां, उसके लिए समाज के और सभी को पूर्ण संकल्पित रहना होगा कि चाहे कैसा भी कार्य हो हम समाज बहिष्कृत के पास नहीं जायेंगे। ऐसा नहीं कि आज कल के उन लोगों की तरह जो सभा-मण्डपों पर तो बड़े बड़े प्रस्तावों को पास करते हैं कि जो विवाह, पर्दा व दहेज से होंगे एवं जिन विवाहों में साज सजाई पर खूब खर्च किया जायगा उनमें शामिल न होंगे ; किन्तु फिर उन्हीं विवाहों में अपने समूचा व्यक्तित्व को भूल कर सर्वप्रथम चले जाने में जरा सी भी आत्मग्लानि बोध नहीं करते। प्रायः यह अनु-

भव सर्वदा होता है कि इस तरह के लोगों के पास जब एक ही दिन के दस निमन्त्रण-पत्र जाते हैं तो जो विवाह ज्यादा धनाढ्य एवं नाम प्रसिद्धि पाये हुए के यहां खूब साज सजाई से होता है वहां वे लोग सबसे पहले पहुँचनेवालों में होते हैं। यही कारण है कि उनमें पूर्ण नैतिक चारित्र्य न होने से उनके प्रयत्न और मन्त्रणाओं में वह प्रभाव नहीं होता कि अन्य लोग उसके अनुरूप चलने को प्रेरित हों जिससे कि समाज में वास्तविक कुछ सुधार हो सकता। इस तरह वे लोग भी आत्म-विश्वास खोये रहते हैं एवं शंकित रहते हैं कि कहीं कोई उनसे उनके कथनी और करनी के भेद की जिरह न कर बैठें—जिससे लोगों की आंखों में भी उनके प्रति सर्वदा एक अविश्वास की भावना व्याप्त रहती है।

उसी तरह ईश्वर है या नहीं, यह धोखा और प्रपंच है के तर्क में माथा लगाने वाले भी उसी मगर की तरह हैं जिसने बन्दर की टांग को छोड़ कर और एक लकड़ी के टूकड़े को एक अच्छा शिकार के भ्रम में पड़ कर एक बार प्रसन्न हो गया। हम इसी में क्यों माथा लगावें कि ईश्वर है कि नहीं। हमें तो यह देखना चाहिए कि इस ईश्वर की भावना से हमें समष्टिगत कोई लाभ मिल रहा है कि नहीं। यदि मिल रहा हो तो जन-साधारण के लिए तो ईश्वर की भावना की इसी में सार्थकता मान लेनी पर्य्याप्त है। प्रगतिवादी लोग इसे अन्धविश्वास कह कर बेवकूफ और कमजोर दिल का द्योतक बताते हैं। किन्तु यदि कोई अन्धविश्वास कल्याणकारी होवे तो ऐसे अन्धविश्वास समाज के लिए वांछनीय ही है। इसमें कोई

हीनता नहीं। बल्कि जिस तरह किसी भी इमारत में ईंटों के अलावा दो ईंटों को जोड़ने के लिए सिमेंट और बालू आवश्यक है; उसी तरह समाज में प्रत्येक ईंट स्वरूप व्यक्ति की इकाईयों के बीच सर्वदा मजबूत अपनत्व बनाये रखने के लिए इसी तरह के कुछ अन्ध विश्वास ज़रूरी है। जो कार्य, मनुष्य के केवल मस्तिष्क से सम्बन्ध रखते हैं, जिन पर बाहरी भय कार्य नहीं कर सकता है--वहां ईश्वर भय जैसा अन्तरीय भय ही उसे कोई भी अनैतिक कार्य करने को रोक सकता है। उसी तरह जहां जनसाधारण का उनके स्वयं के कल्याणार्थ भी कोई कार्य की ओर उनको प्रेरित किये रखना हो तो ईश्वर भय ही विशेष रूप से कार्य सिद्ध करता है। प्रातःकाल ब्रह्म मुहूर्त में उठना, प्रत्येक एकादशी को व्रत रखना, सूर्य चन्द्र-ग्रहण के समय कुछ न खाना, स्त्री के रजस्वला के समय यौन समागम न करना इन सभी सिद्धान्तों को सभी वैज्ञानिक और शरीर शास्त्री एक मत से स्वास्थ्य-रक्षा के लिए अत्यन्त अनिवार्य मानते हैं; किन्तु जो लोग तर्क से इन्हें लाभकारी मानते हैं वे कितने प्रतिशत इस पर अमल करते हैं? जबकि यही कार्य लोगों में ईश्वर भय यानि एकादशी पर ब्रत रखने से, ब्रह्म मुहूर्त में उठने से पुण्य होगा एवं स्त्री के रजस्वला के समय समागम करने से घोर पाप लगता है की भावना जन-साधारण को इस पर अमल कराने में सफल हुआ है। अतएव, ईश्वर वास्तव में है या नहीं, क्या पुण्य है और क्या पाप है इन्हें एक तरफ रख कर हमें यही देखना है कि इन तथाकथित अन्ध-विश्वासों से हमें कोई लाभ है या नहीं, यही सोचने का विषय

हैं। यह ईश्वर भय तो कई अन्य महत्वपूर्ण उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए साधन है अतएव विचार करने का विषय साधन नहीं बल्कि साध्य होना चाहिए। अतएव जैसे इमारत की सभी ईंटों को एक साथ जुड़ी रखने के लिए सिमेंट और बालू की आवश्यकता है वैसे ही समाज की रचना को अक्षत रखने के लिए ईश्वर भय और ईश्वर प्रेरणा की भावना जरूरी है। जैसे रंगमंच पर कार्य करनेवाली एक नायिका को यह कह दिया जावे कि नाटचशाला में उसका प्रेमी भी आया है तो चाहे वह सचमुच में आया हो या नहीं; किन्तु उतनी भावना मात्र ही उसके अभिनय में एक विद्युत गति की सृष्टि करने को पर्याप्त है। उसी प्रकार ईश्वर की भावना भले ही केवल मात्र कल्पना ही हो; किन्तु जब जन-साधारण के मन में अन्धविश्वास के रूप में ही सही जब वास्तव के घट-घट वासी, अन्तर्यामी के रूप की भावना भर दी जाती है तो प्रथम तो जो नीच और बुरे कार्य हों उन्हें न करने का संयम पाता है और दूसरा उसी भावना से असीम प्रेरणा और उत्साह पाता है। एकलव्य ने केवल एक मिट्टी की मूर्ति सम्मुख रख कर अपने गुरु के साक्षात्कार होने की भावना भर कर अद्वितीय एकाग्रता लाकर तीर-धनुष की विद्या हासिल करने में सफल हुआ था एवं उसी तरह मीरा बाई, नरसी भक्त, संत तुलसीदास, कबीर, रहीम आदि ने उसी ईश्वर की भावना मात्र से प्रेरणा ग्रहण कर उसी में अपने को एकाकार करते हुए मनुष्य की उच्चतम भावनाओं की गहराई तक पहुँच कर असंख्य लोगों का कल्याण कर सके थे एवं इतिहास के अनुसार भी युग प्रवर्त्तक

कहलाये। अतएव ईश्वर भावना का जन-कल्याण के लिए होना अत्यन्त आवश्यक है यह निर्विवाद रूप से सत्य और सिद्ध है। इसके अभाव में ही आजकल इतना नैतिक पतन होना शुरू हो गया एवं लोगों में आपस का भेद-भाव द्रुतगति से बढ़ना आरम्भ हो गया है।

ईश्वर भावना के विलुप्त होने का कारण भी विशेषकर आजकल के कहे जाने वाले तथाकथित प्रगतिवादी लोग हैं। जो सभी चीजों को केवल तर्क से ही तौलने की चेष्टा करते रहते हैं एवं मनोवैज्ञानिक होने का दावा करते हुए भी मनुष्य के मनोविज्ञान गहराई और उसकी प्रतिक्रिया मनुष्य के मनःस्थल में अत्यन्त दूर तक पड़ता है उस पक्ष की अवहेलना करते प्रतीत होते हैं। परिवार-नियोजन, सांस्कृतिक उत्थान, शिक्षा के नये नये रूप, संयुक्त परिवार की रचना के बदले और ही समाज की रचना के विचार, स्त्रियों को समानाधिकार आदि प्रश्नों पर इस तरह बातें करते हैं मानो सर्वप्रथम मानव समाज की विषम गुत्थियों को सुलझाने वाले यही रहे हों एवं इसके पूर्व तो कोई समाज रचना रही ही न हो। एक तरफ तो देश में भुखमरी के प्रश्न और बढ़ती हुई तपेदिक (टी० बी०) बीमारी को लेकर हो-हल्ला किये हुए हैं और टी० बी० के लिए सेनोटोरियम पर सेनोटोरियम खोलने की अत्यन्त समस्या बताते हैं और दूसरी ओर परिवार नियोजन करने के नाम पर रबड़ की थैलियों और पेसरीयों द्वारा प्रतिदिन वीर्य ह्रास करने की छूट देकर लोगों को खोखला बना कर उन्हें तपेदिक के रोगी बनाने की तय्यारी करते हैं। एक तरफ तो स्वस्थ

सन्तानों के प्रजनन एवं औसतन आयु वृद्धि पर जोर देते हैं। तो दूसरी ओर लोगों को रवड़ की थैलियों से उन्हें किसी भी समय निर्भय होकर मैथुन करने का प्रोत्साहन देकर कमती उम्र में स्नायु दौर्बल्य एवं और नाना प्रकार की अन्य कई बिमारियों की ठठरी बनाने की तैयारी करते हैं। एक तरफ युवकों के उच्छृंखलता की भर्त्सना करते हैं तो दूसरी तरफ उन्हें कृत्रिम साधनों द्वारा उच्छृंखलता की नयी तरकीवों की तालीम देते हैं। परिवार नियोजन के लिए आज जब कि लोग इतने आतुर और विभ्रान्त हुए फिर रहे हैं इस समस्या को पहले वाले दूरदर्शी मनीषीगण बहुत पहले ही बड़े समुचित तरीके से सुलझा दिये थे। वे जानते थे कि इसका हल बाहरी कृत्रिम साधनों में नहीं बल्कि आत्म-संयम एवं मनुष्य के स्वयं की भावनाओं और सोचने के ढंग पर ही है एवं सीधे उस पर ही अंकुश लगाना श्रेयकर समझ कर एक प्रकार की चाहे अन्ध विश्वास कहो, चाहे ईश्वर भय द्वारा जगह जगह नियन्त्रण लगा दिये थे, जैसे मासिक के समय चार दिन उसके उपरान्त के और चार दिन, पूर्णमासी, अमावस्या, एकादशी इत्यादि करके महीने में केवल कुछ ही दिन रखते हुए एवं इसके अतिरिक्त वर्ष में दो-तीन महीनें पीहर रहने पर, अन्य पर्वों पर, तीर्थस्थानों पर, यात्रा में इस तरह पूरे साल के ३६५ दिनों में केवल कुछ ही दिन उचित बताकर आत्म संयम (Self-Control) ही पर ज्यादा महत्व दिये थे और अब तक उसका फायदा होता रहा है फिर उसी का पुनरुत्थान न कर इस तरह के केवल अपनी सनक की

तुष्टि के लिए नये प्रयोगों का ग़लत तरीका अपना कर समाज और देश के भाग्य से क्यों खेल रहे हैं ?

उसी तरह एक के बाद दूसरा कला केन्द्र, थियेटर सेन्टर, कलचरल सोसाइटी, सांस्कृतिक प्रतिष्ठानों के खोलने की ऐसी आपस में दौड़ शुरू हुई है कि मानो सांस्कृतिक विकास हुआ है तो अभी ही हुआ है इसके पहले तो सब लोग मूर्ख ही थे। वे लोग यह भूल जाते हैं कि संस्कृति (Culture) का मतलब अपने शरीर को शौक़ीन बेशक़ीमती कपड़ों से सजाने, नृत्य में वा संगीत में वा नाट्यशाला के रंगमंच पर अभिनय करने में नहीं है बल्कि पूरे समाज के समष्टि की शान्ति एवं सामाजिक व्यवस्था की संरक्षता के लिए व्यक्तिगत इच्छाओं पर संयम रखने की क्षमता पूर्ण व्यवहार में संस्कृति (Culture) निहित हैं। जब कि उसी का पूर्णतया अभाव है। सभी अपनी २ इच्छाओं की पूर्ति के लिए चों-चों, मैं-मैं, करते हुए नित नये यूनियन, संघ, क्लब और पार्टियां खोलते रहते हैं। पहले शिक्षा का अर्थ नम्रता, सज्जनता और दूसरों की खुशी के लिए अपनी खुशी के त्याग के लिए तत्परता एवं श्रद्धा से था, जबकि आज की शिक्षा लोगों में अहंकार और बाबूगिरी की भावना भरती है। पहले शिक्षा के साथ लोगों में सादगी आती थी जब कि आजकल जैसे जैसे शिक्षा ऊँचे दर्जे की होती जाती है लड़कों में अधिकाधिक बाबूगिरी नये नये फैशन और पोशाकों की प्रतिद्वन्दिता चालू हो जाती है।

आजकल लोग स्त्री-पुरुष के बराबरी और समानाधिकार के पीछे पड़े हुए हैं। मैं यह नहीं कहता कि स्त्रियों का

उत्थान नहीं होना चाहिये व उनको उचित सम्मान नहीं मिले; किन्तु वर्तमान में जो विद्रोह की पद्धति है, वह उचित नहीं। यह तो बल्कि उल्टी प्रतिक्रियात्मक पद्धति है जिससे कानून के द्वारा जबकि केवल भौतिक वस्तुओं में ही केवल बराबरी का अधिकार प्राप्त होता है; स्त्री-पुरुष का एकाकार हो जाना जो ज्यादा महत्वपूर्ण है वह जब नहीं हो पाता, समाज-रचना का पूरा आधार ही कमजोर हो जाता है। सम्मान कभी भी जबरदस्ती या कानून से नहीं हस्तगत किया जा सकता ; और न हो अपनी संस्कृति में कभी नारी ने सम्मान पाने के लिए जबरदस्ती का रास्ता अपनाया था ; बल्कि इसके लिए नारी के पास इससे कई गुणा ज्यादा महत्वपूर्ण साधन है। और वह है त्याग, संयम और सेवा के रूप में अपने को नि:शेष भाव से दे देने का वशीकरण मन्त्र। हमारी संस्कृति और सभ्यता ने किसी भी चीज को जबरदस्ती और मांग कर लेने में विश्वास नहीं किया था। बल्कि सभी चीज दे देने में विश्वास किया था जिसके बदले में वह सब कुछ स्वतः ही पा जाता है जोकि वह किसी भी जबरदस्ती से नहीं पा सकता था। हम यह जानते थे कि मनुष्य जितना देता है उतना पाता है न कि जितनी जबरदस्ती की जाती है उतनी पाता है। प्राण देने से प्राण मिलता है, मन देने से मन मिलता है। आत्मदान ऐसी वस्तु है कि दाता और ग्रहिता दोनों को सार्थक कर देती है। लोग आजकल उन्मुक्त जीवन के लिए विकल से हो रहे हैं ; किन्तु वे यह नहीं जानते कि बन्धन एक सौन्दर्य है, आत्मद-मन सुरुचि है एवं जीवन में बाधाएं एक माधुर्य है।

नहीं तो यह जीवन एक व्यर्थका बोझ और माधुर्यहीन हो जाता और वास्तविकताएं नग्न रूप में प्रकट होकर कुत्सित बन जाती हैं। भारतीय समाज रचना में बन्धन को सत्य मान कर समाज को एक जीवन-दान मिला है। अपने आप को स्वतः की प्रेरणा से ही उत्सर्ग कर देने की एवं अपने आप को खपा देने की भावना प्रधान को ही स्त्री का एक प्रतिरूप माना गया है। जहां कहीं दुःख-सुख की लक्ष-लक्ष धाराओं में अपने को निचोड़ कर दूसरे को तृप्त करने की भावना प्रबल है, वही 'नारी तत्व' या 'शक्ति तत्व' माना गया है। वह आनन्द भोग की नहीं बल्कि अपने संयम, त्याग और सेवा मन्त्र से आनद लुटाने की आकांक्षा रखती है। अपना निःशेष भाव से आत्मदान के वशीकरण मन्त्र से पुरुष के केवल आधे भाग तक ही नहीं बल्कि उसके पूर्ण साम्राज्य पर विजयारूढ़ होती है। यह एक कोरी गप ही नहीं बल्कि आज भी इतनी तथाकथित प्रगतिवाद की हवा के बीच भी ज्यादा प्रतिशत ऐसे ही घर मिलेंगे, जहां पूर्ण घर स्त्रियों के हाथ में ही है एवं पुरुष उन्हें पूर्ण सम्मान देते हुए उनकी ही सलाह से सब काम करते हैं। इसके लिए उन्हें जबरदस्ती करने की या कानून के सहारे की जरूरत नहीं होती। बल्कि पुरुष में अपने को एकाकार कर के एवं अपने त्याग और सेवा के मन्त्र से ही वह इतना उच्च सम्मान पा लेती हैं जिससे कानून बल्कि सौ कोसों दूर कर देता है। कतिपय कुछ उदाहरणों को बड़े रूप में दर्शा कर समस्त समाज की रचना पर आघात करना किसी भी रूप से विवेकपूर्ण नहीं। इस तरह लिया जाय तो विदेशों में जहां के आदर्श की ये लोग

प्रेरणा लिए हुए हैं, वहां ऐसे ही उदाहरणों की ज्यादा भरमार है जो कानून का सहारा उपलब्ध होते हुए भी एवं कानून का सहारा लेने के पश्चात् बल्कि औरतें अन्तरीय मन में ज्यादा दुखित हैं। इन कष्टों का कारण बराबरी और समानाधिकार के कानूनों का अभाव नहीं, बल्कि उचित शिक्षा, जीवन का सही दृष्टिकोण, सहिष्णुता एवं त्याग और सेवा की भावनाओं की कमी है। यों भी जो प्रगतिवादी स्त्री-पुरुष के बराबरी का तर्क करते हैं उन्हें जानना चाहिए कि मनोविज्ञान के अनुसार भी वे बराबर नहीं है और न ही हो सकते हैं। न केवल स्त्री और पुरुष में शरीर रचना का ही केवल भेद है, बल्कि उनके मस्तिष्क के सोचने की शैली ही भिन्न है। पुरुष जबकि शासन करने की और संरक्षण देने की महत्वाकांक्षा रखता है, स्त्री सदैव शासित होने और संरक्षण पाने की ही कामना करती है। यह केवल साधारण स्त्रियोंकी ही बात नहीं और न ही केवल इस देश की, बल्कि सम्पूर्ण विश्व और सृष्टि मात्र में ही चाहे कितनी भी शिक्षित और प्रगतिवादी हो, वह हमेशा ही जब पुरुष की कामना करती है तो अपने से बढ़े हुए की जिससे वह उसे शासित कर सके और संरक्षण दे सके। अतएव, आजकल जो सभा-सम्मेलनों में बराबरी का आन्दोलन और लड़कियों को इस मसले में सत्याग्रह करने का जोर दिया जाता है वह लड़कियों को हर बात में हठी, जिद्दी और विद्रोहिनी बनाकर अरचनात्मक ही नहीं बल्कि ध्वंसात्मक ही सिद्ध हो रहा है। पुरुष का कार्यक्षेत्र घर के बाहर और स्त्री का घर के अन्दर ही है। यह सहयोग और पूर्णता का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।

यों आजकल तथाकथित पढ़ी-लिखी या अनपढ़ परन्तु प्रगतिवादी स्त्रियां करती ही क्या हैं। खाना रसोईया पकाता है, कपड़े नौकर धोता है, साफ सफाई नौकर करता है, कपड़े दर्जी सी देता है, अन्न को चुगना फटकना किसी दाई को बुला कर करवा लिया जाता है, बच्चों की शीक्षादिन में स्कूल भेजकर और सुबह शाम प्राइवेट मास्टरों के द्वारा कर दी जाती है एवं जो और भी शौक़ीन औरतें हैं, वे बच्चे के जन्म के तुरन्त बाद ही आया को उसके पालने का भार देकर एवं कुछ बड़ा होते ही मौन्टेसरी और कीनडर गार्टेन स्कूलों में भर्ती कर वैसे उनसे मुक्ति पाने की छटपटाहट में रहती है। इस तरह घर के सभी कार्यों को दूसरे लोगों पर छोड़ कर एक तरफ घर की आर्थिक परिस्थिति में असन्तुलनता पैदा करना और दूसरी ओर स्वयं या तो दिन भर मार्केटिंग या सिनेमा या सखी-सहेली बनाने के फ़िराक में या दिन भर उपन्यास पढ़ कर अपने को बड़ी शिक्षित जताना आदि में ही व्यस्त रहती है एवं घर का और अपने शरीर दोनों का नाश करती रहती हैं। या फिर स्वयं भी पुरुष की बराबरी की होड़ में किसी आफिस वगैरह में काम करने की धुन सवार होती है एवं इसी तरह के जीवन की स्वाधीनता और बराबरी के पीछे पड़ी रहती हैं; किन्तु घर का काम-काज करे नहीं, तंगी या शिकायत कुछ रहे नहीं, सब समय सैर-सपाटा करती फिरें—क्या यही स्त्रियों के स्वाधीनता का मापदण्ड है? यह ठीक ही कहा गया है कि स्वयं विधाता के भी काम-काज का अन्त नहीं, किन्तु क्या इस कारण उसे कोई पराधीन कहता है? स्वाधीनता तत्व विचार से, न्याय

की दुहाई देने से या सभा में पुरुषों से कलह करने से नहीं मिलती। वास्तव में यह स्वाधीनता कोई किसी को दे नहीं सकता और न ही यह कोई लेन-देन की वस्तु है। स्वाधीनता अपनी पूर्णता से, आत्मा के अपने विस्तार से स्वतः ही आती है। बाहर से अण्डा के छिलके को तोड़ कर हम चाहें कि उसके अन्दर के जीव को हम मुक्ति दे दें तो वह जैसे सम्भव नहीं बल्कि असामयिक अवस्था में छिलके को तोड़ने से जीव की मृत्यु हो जाती है- उसी प्रकार किसी को उसके व्यक्तित्व का विकास होने के पूर्व ही उसे अनुचित जबरदस्ती स्वाधीनता दिलाने से उसके असली जीवन की हत्या होकर वह बिल्कुल कृत्रिम होकर कुत्सित दिखाई देने लग जाती है। अतएव वास्तविक स्वाधीनता तो आत्म-संयम, कार्य-तत्परता, सेवा और त्याग आदि द्वारा अपने व्यक्तित्व के विकास से ही सम्भव है। इसमें प्रथम प्रथम अवश्य ही कष्ट हो सकता है; किन्तु जो आनन्द कष्ट के पश्चात् मिलता है वह स्थायी और सुखकर हुआ करता है और जो कष्ट के पहले मिलता है, वह बाद में बहुधा दुःख दायी हुआ करता है।

पहले के समाज रचना का आधार-स्तम्भ संयुक्त परिवार था। आजकल लोग इसे अशक्य मानने लगे हैं। हाँ, यह अवश्य है कि वर्तमान आर्थिक परिस्थिति एवं लोगों की शिक्षा और शैली में संयुक्त परिवार सम्भव नहीं; किन्तु जब साथ साथ किसी सुधार की जरूरत महसूस ही होती है तो फिर ग़लत मार्ग की ओर न जाकर संयुक्त परिवार फिर से सम्भव हो सके एवं उसके मार्ग में क्या विघ्न-बाधाएं हैं उनको दूर करने की ही

चेष्टा क्यों न की जाय। संयुक्त परिवार की प्रणाली के अलावा यदि वर्तमान व्यक्तिगत परिवार की पद्धति भी यदि अच्छी सिद्ध हुई होती तो भी एक बात थी; किन्तु हम तो देख रहे हैं कि यह तो उल्टी और जटिल हो रही है। यदि स्त्री-पुरुष में केवल पुरुष ही कमाई के कार्य में हैं तो उसे अगर कहीं महीना दो महीना के लिए अकेले ही बाहर जाना पड़े तो उसे मुश्किल हो जाती है कि स्त्री-बच्चों को किसके भरोसे छोड़ के जावे। कभी स्त्री बीमार पड़ी तो वह अकेला स्त्री की देख भाल करे या दफ्तर में जावे। यदि कभी पुरुष बीमार पड़ जावे तो स्त्री के लिए घर चलाना मुश्किल हो जावे। यदि स्त्री-पुरुष दोनों कमाने चले जावें तो घर का ख्याल एवं बच्चों का ख्याल कौन रखे आदि आदि। जब कि संयुक्त परिवार में ये सब प्रश्न बड़ी आसानी से हल हुए होते थे। हां, संयुक्त परिवार में इन दिनों काफी विषमता आ गयी थी, उसे अवश्य ही दूर करना वांछनीय है एवं मेरा तात्पर्य यही है कि जब किसी भी क्षेत्र में सुधार करना ही है तो फिर अंधेरे में न कूद कर जो हर समय से कल्याणकर सिद्ध होती आयी है, उसी प्रणाली में कालान्तर में आयी हुई विकृति को दूर कर क्यों न सुधार किया जावे।

सगे भाईयों में आपस में अभिमान की मात्रा इतनी अधिक हो गयी कि सभी अपना अपना अभिमान रखने को लड़ पड़ते हैं। एक भाई दूसरे की एवं एक भाई की स्त्री दूसरे भाई की स्त्री की दूसरे परिवार के अन्य लोगों के पास निन्दा करने में नहीं हिचकते, किन्तु यह भूल जाते हैं कि अपने ही भाई की निन्दा करने का तात्पर्य पूरे परिवार की ही निन्दा करना है।

एवं समूचे परिवार की ही प्रतिष्ठा कम कर देना है जिसका वह भी एक सदस्य या सदस्या होने के नाते उसके स्वयं की भी प्रतिष्ठा उसके अनजाने ही नासमझी में कम हो जाती है। सभी अपने अपने अभिमान में इतने मद रहते हैं, जैसे हर समय उनकी तलवारें निकल ही पड़ती हों ; एवं सभी अपने अपने अभिमान की रक्षा में एवं उसमें फिर स्त्रियों का भी दम्भ मिल जाने से सभी लोग परिवार से पृथक् हो जाने की ठान कर समूचे परिवार की एकबद्ध शक्ति को छोटी छोटी इकाइयों में बाँट कर उस शक्ति को छिन्न-भिन्न कर देते हैं एवं वही अभिमान जिसकी पुष्टि के लिए वह पृथक हुआ था, उसके स्वयं के अस्तित्व को भी न्यून कर देता है। पृथक् होते तो हैं स्वतन्त्रता पाने की चाह से किन्तु हो जाते हैं और पराधीन। अकेले घर की फिक्र, बच्चों की फिक्र, गृहस्थी के अन्य कार्यों को भी स्वयं ही देखने की, नाना प्रकार चिन्ताओं के कारण वे एक ही स्थान पर इस तरह कैद हो जाते हैं कि न तो कहीं बाहर कार्य्य से जा पाते हैं और न ही कभी घूमने वगैरह के लिए। यों बाहर वालों से झगड़ा हो पड़ता है तो अपमान का घूंट पी लेते हैं ; किन्तु वही चीज घर पर बर्दाश्त नहीं कर पाते। जहां दस आदमी रहते हैं वहां समय समय पर कुछ मतभेद होते ही रहते हैं, यह तो स्वाभाविक ही है ऐसा समझ कर यदि ऐसे मौकों पर सहिष्णुता रख लें तो काहे को घर छिन्न-भिन्न हो और काहे को स्वयं को अपने ही अभिमान में जलना पड़े। ऐसे मौकों पर पहले हम हीकिसी से क्यों दबें वहीं क्यों नहीं चुप हो जाता इत्यादि भावना कभी भी बिगड़े हुए काम को सुलझने नहीं देता। इसीं तरह

प्रत्येक की सहिष्णुता पहले अगले में देखने की भावना से पूरे परिवार का ही सत्यानाश हो जाता है।

यह कितनी बड़ी भूल है कि जो व्यापार के फ़र्म बीस-तीस चालीस वर्ष के पुराने हैं उनकी गुडविल (Goodwill) को तो हम लाखों रुपये देकर खरीदते हैं जबकि अपने परिवार की सालों की परम्परागत साख को सब अहंकारवश अलग अलग होकर अपने ही हाथों छिन्न-भिन्न कर बैठते हैं। अपना समाज वाणिज्य में सर्वप्रवीण माना जाता है। और ऐसी भूलें जब एक व्यापारी के घर में होने लगे तो वह व्यापारी कैसे टिक सकता है। ऐसी गलतियों से तो उसका अस्तित्व लोप होना स्वाभाविक ही है। हम लोग यह भूल जाते हैं कि किसी भी परिवार का प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण परिवार रूपी वृक्ष की एक शाखा ही है। सभी शाखाओं में अलग अलग पानी और सिंचाई करने से सभी अपना अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकती और न ही परिवार रूपी वृक्ष कायम रह सकता है; किन्तु यदि परिवार रूपी वृक्ष के धड़ की जड़ में ही केवल सिंचाई की जावे तो स्वयमेव सभी शाखाओं को भी उससे लाभ होता रहेगा। उसी तरह परिवार के प्रत्येक सदस्य अपनी अपनी अलग अलग उन्नति के फेर में न पड़ कर सामूहिक परिवार की उन्नति एवं मान-प्रतिष्ठा बढ़ाने की सोचे तो स्वयमेव परिवार की प्रतिष्ठा की वृद्धि के साथ-साथ परिवार के सभी सदस्यों की प्रतिष्ठा भी अपने आप बढ़ती जावेगी एवं प्रत्येक सदस्य के लिए अपने लम्बे और वृहत् परिवार की प्रतिष्ठा एक अत्यन्त प्रबल आत्मविश्वास, आत्मबल और स्वाभिमान के बल के रूप में

रहेगी जो उसके अपने व्यक्तिगत जीवन की अभिव्यक्ति में भी अत्यन्त सहायक होगी ; किन्तु आजकल तो प्रयेक सदस्य अपने स्वयं के वारे में ही सोचता है एवं अपनी अलग अलग उन्नति करने और प्राइवेट व्यापार के ताक में ही रहता है। इस तरह धीरे धीरे अलग होकर अपने को एक वृहत् वृक्ष की टूटी टहनी की तरह अपना दायरा छोटा-सा कर लेता है। एवं वही एक वृक्ष जो संयुक्त रूप में सैकड़ों लोगों को छाया प्रदान कर सकता था, सैकड़ों पशु-पक्षियों को सहज ही शरण दे पाता था और अपनी जड़ों द्वारा धरती की मिट्टी को एकबद्ध में बांध रखा था, वही अलग अलग टहनी में क्षत-विक्षप्त होकर बिखर पड़ने पर किसी योग्य नहीं रह जाता। उसी प्रकार आज अपना समाज भी बिखर रहा है।

अतएव, अब अविलम्ब समय रहते ही समाज के कर्णधारों एंवं समाज के प्रत्येक व्यक्तियों को फिर से पंचायत पद्धति का पुनर्निर्माण कर समस्त समाज को एकबद्ध करने को कटिबद्ध हो जाना चाहिए। जब तक इस ओर सामूहिक प्रबन्ध नहीं हो पाता है तब तक प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत परिधि में ही वह जो कुछ कर सकता है इस ओर करना चाहिए। एक एक व्यक्ति अलग अलग भी इस ओर जागृत हो जावे तो बहुत कुछ कार्य आगे बढ़ जावेगा एवं जैसे अलग अलग वृक्ष कुछ कुछ दूरी होते हुए भी अपनी जड़ों में अपने अन्तर्गत की जमीन को बांधे हुए रख कर समूची जमीन को बहाव से सुरक्षित रखने में समर्थ होता है उसी प्रकार सभी व्यक्ति चाहे छोटा हो चाहे बड़ा या किसी भी अवस्थामें हो वह केवल अपने स्वयं के

स्वाभिमान को भी जागृत कर अपने समाज की भलाई किसमें है की नीति को रख कर व्यवहार करें तो भी यह निश्चित है कि समाज कभी न कभी फिर जाग उठेगा। कोई भी यह न सोचे कि वह है ही कौन, उसके किये क्या हो सकेगा। यह काम तो मेरा नहीं अन्य लोगों का है या उन लोगों का है जिन्हें अन्य कोई कार्य नहीं जैसे नौकरी करनी या अपना व्यापार करना, ऐसा कोई भी न सोचे। यह हमारा, आपका, प्रत्येक व्यक्ति का अपना स्वयं का काम है। वैसा ही जै... अपने घर में कोई भी अपना निजी काम। प्राय... ऐसा देखा जाता है कि किसी भी सभा सम्मेलनों ... यानी कुछ इस विषय का लेख वगैरह पढ़ने के प... दो-चार आदमी मिले, बस केवल लीडरों को दो-... दी और कुछ हँसी ठठ्ठा करके उस बात को उ... हैं। किन्तु उनकी यही लापरवाही समाज के वि... उनका स्वयं का घर भी जाने अनजाने में ... स्थिति का शिकार बनने का कारण हो जाता ... वास्तव में कुछ कार्य करते हैं, उनकी खिल्ली ... अपनी कमजोरी और छोटेपन का बोध ही कराना है... क्यों नहीं सोचते कि वे लोग चाहे सही या ग़लत ... करते हों, कुछ सोचते और करते तो हैं, इसी कारण व... स्तुत्य नहीं ? क्यों न हम दूसरे का आदर करने की ... विशालता लाकर उनके प्रयत्न में सहारा देने एवं ... कुछ कर्तव्य पालन करने का अभ्यास शुरू कर अप... का एवं देश के उत्थान में अविलम्ब सहायक सिद्ध हों
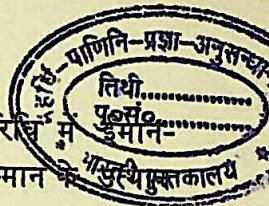
आइये जो भी जहां हों वहीं से अपनी अपनी परिधि में ईमानदारी से जो उचित जंचता हो अपने जाति-सम्मान के में कार्यरत हो जावें—

इस और दैनन्दिन के कार्यों में जब कोई संकल्प-विकल्प और दो राहों के बीच पड़ जावें जिस समय और भी कोई मन्त्रणा देने वाला न मिले, उस अवस्था में नीचे लिखे आधार पर सोच कर अपना पथ स्वयमेव निश्चित कर सकता है :—

कोई भी कार्य केवल स्वयं के व्यक्तिगत स्वार्थवश न हो था, सैदैव उस कार्य की प्रतिक्रिया समस्त समाज पर कैसी अपनी जगी सो ध्यान रखा जावे। यदि प्रतिक्रिया अनुचित था, वही मालूम हो तो समष्टि कल्याण के लिए अपना व्यक्ति-पर किसी स्वार्थ को त्याग देना श्रेयस्कर है। प्रत्येक को समाज व्यक्तिगत रूप से न सोच कर सर्वदा ही समष्टि

अतः विचार, समाज और राष्ट्र की दृष्टि से ही सोचना एवं समाहिये। जिस कार्य की प्रतिक्रिया समष्टि कल्याण के का पुनर्निरीत हो उसे त्याज्य ही समझना चाहिए।

हो जाना ः भी रीति-रिवाज समाज के लिए बनी है, समाज हो पाता ति-रिवाज के लिए नहीं ऐसा ध्यान में रखा जाय। ही वह जां कोई रीति-रिवाज आपस के भाईचारे के बीच दीवार व्यक्ति न कर खड़ी प्रतीत हो उसका संशोधन कर देना श्रेय-कार्य स्कर है।

दूरी हात ी भी यह आशा न की जाय कि जो कार्य भले के लिए बांधे हुए ा जावे उसकी प्रशंसा मिलनी चाहिए। हमें तो में समर्थ ःकनिष्ठ होना है। किसी को दिखलाने के बड़ा या

ख्याल से नहीं करना है जिससे आकांक्षा की हुई प्रशंसा न मिलने पर निराशा हमें अपने विवेक कार्य से विचलित कर सकें ;

(४) सभी कार्य जाति-सम्मान के अनुरूप हों और प्रत्येक को जाति-सम्मान का अभिमान हो। चाहे जितना भी गिरा हुआ समाज क्यों न हो जब तक जाति-सम्मान विकसित न होगा, उत्थान सम्भव नहीं। यदि हम ही अपने समाज का सम्मान नहीं करेंगे तो दूसरा क्यों करेगा ? किन्तु हमें यह भी सतर्क रहना चाहिये कि कहीं समाज में संकीर्णता न आ जावे, बल्कि प्रत्येक जाति के प्रति उदारता रखनी जाति-सम्मान का एक अविभाज्य अंग है। जो कार्य जाति सम्मान के विपरीत हो वह त्याज्य समझा जाय ;

इसके अलावा जो लोग समाज के कार्य में पहले से ही रत हैं और कर्णधार हैं वे—अगर अविलम्ब ही समाज को फिर से एकबद्ध करने का कुछ आधारभूत कार्य करें तो शायद बहुत ही जल्दी सफलता मिल सके जैसेः—

(१) अपने समाज को फिर से एक पंचायत के अन्तर्गत लाया जावे एवं चाहे कोई कितना भी धनाढ्य हो उससे पंचायत द्वारा ही निर्धारित नियमों के अनुसार व्यवहार किया जावे ;

(२) शिक्षा का वर्तमान तरीका तुरन्त बदला जावे, इस विषय में जिनका स्कूलों की व्यवस्था से सम्बन्ध है, वे विना विलम्ब सहज ही कुछ न कुछ करने को समर्थ

हो सकते हैं। शिक्षा में सुधार कर लड़कियों की शिक्षा का भी द्रुतगति से प्रसार किया जावे एवं उनका पाठ्यक्रम लड़कों के पाठ्यक्रम से भिन्न हो जो उन्हें एक सद्गृहिणी बनाने में सहायक हो सके। भौतिक-वादी और बहिर्मुखी होने के संस्कारों के बजाय अन्त-र्मुखी आत्म-संयमी होनेकी शिक्षा दी जावे।

(३) विवाह में एवं दैनन्दिन के अन्य रीति-रिवाजों और सभी धार्मिक मान्यताओं की सूची बना कर उनके गूढ़ तत्व का विश्लेषण कर लोगों के सम्मुख रखा जावे—जो उचित है उन्हें व्यवहार में फिर से लायी जाने का प्रयत्न हो एवं जो विकृति हो उनसे सम्बन्धित रूढ़िवाद का निराकरण किया जावे इत्यादि।